द्रष्टा दृश्य और दर्शन

एक चौथे आयाम की खोज

डॉ. मधु कपूर

BlueRose ONE.com
Stories Matter
NewDelhi • London

BLUEROSE PUBLISHERS
India | U.K.

Copyright © Dr. Madhu Kapoor 2026

All rights reserved by author. No part of this publication may be reproduced, stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the prior permission of the author. Although every precaution has been taken to verify the accuracy of the information contained herein, the publisher assumes no responsibility for any errors or omissions. No liability is assumed for damages that may result from the use of information contained within.

BlueRose Publishers takes no responsibility for any damages, losses, or liabilities that may arise from the use or misuse of the information, products, or services provided in this publication.

For permissions requests or inquiries regarding this publication,
please contact:

BLUEROSE PUBLISHERS
www.BlueRoseONE.com
info@bluerosepublishers.com
+91 8882 898 898
+4407342408967

ISBN: 978-93-7825-618-9

Typesetting: Manisha Rawat

First Edition: May 2026

उत्सर्ग

उन सबको जो दर्शन की गुत्थियों को
सुलझाने में ही उलझ जाते हैं

विचार बिन्दु

दर्शनशास्त्र के सम्बन्ध में जनमानस में प्रचलित कुछ धारणाएँ प्रायः भ्रांतियों से घिरी होती हैं। वे इसे आत्मा-परमात्मा या जगत-जीवन से जुड़ी कभी अत्यन्त कठिन और कभी बेसिरपैर की विद्या अथवा कभी रहस्यों वाली एक जटिल और अव्यावहारिक विषय-वस्तु समझ बैठते हैं। बचपन से सुनते आए थे कि दर्शनशास्त्र 'अँधेरे कमरे में एक ऐसी काली बिल्ली की खोज करता है जो वहां है ही नहीं'। अथवा दार्शनिक इस चिंता की ग्रंथि सुलझाने में ही व्यस्त रहता है कि 'जल में पात्र है या पात्र में जल है'। एक प्रसिद्ध वाकया तो ऐसा है कि दर्शनशास्त्र के खिलाड़ी-छात्र टेनिस खेलने के समय कुछ ऐसे अड़ जाते है कि टेनिस बॉल का अस्तित्व प्रमाणित किये बिना खेल को आगे बढ़ने ही नहीं देते हैं और जब टेनिस बॉल का अस्तित्व ही खतरे में हो तो खेल कैसे शुरू हो सकता है!

इन सभी प्रचलित धारणाओं में कहीं न कहीं, कुछ न कुछ सत्य अवश्य होता है, क्योंकि तर्क और तर्क से परे सोचने की क्षमता हमारे व्यावहारिक जीवन को इतना बोझिल बना देती हैं कि हम दर्शन के अलावा अन्य सभी विषयों पर खुल कर बोलते हैं और अपने विचारों को भी प्रकट करते हैं। पर जैसे ही कोई गंभीर प्रश्न सामने आता है तो लोगो को अक्सर उबासी लेकर कतराते हुए देखा जाता है और एक फिकरा कसा जाता है, 'छोड़ो, ये क्या दार्शनिक पचड़े में पड़ गये हो' और बात वहीँ समाप्त हो जाती है।

इसके विपरीत मुझे तो Bertrand Russell की पुस्तक का पहला पाठ ही हमेशा याद आता है जहाँ टेबल जैसी एक 'सामान्य' सी वस्तु का सत्य भी मेरी समझ के परे चला जाता है और बिना जाने हम विश्वास करने लगते हैं कि 'यह टेबल है'। टेबल की तुलना में आत्मा परमात्मा और जगत जीवन की खोज और इनसे जुड़ी समस्याओं का समाधान दूर की कौड़ी ही साबित होती है। मेरे भी दिमाग में ऐसे विचार अक्सर कौंधते रहते थे लेकिन इस बीज को वृक्ष कैसे बनाया जाय—इस सम्बन्ध में कोई रूपरेखा मेरे पास नहीं थी। हालाँकि, कभी कभी किसी मेधावी छात्र के साथ संवाद चर्चा में

एक ऐसे स्तर पर पहुँच जाती थी जहाँ से निकलना न केवल मुश्किल हो जाता था, बल्कि वहां से निकलने का कोई रास्ता भी सुझाई नहीं देता था। सचमुच वह अंधी गली जैसा लगता था। पर उसे मूर्त रूप देने की कोशिश मैंने कभी नहीं की।

यूँ तो अध्ययन और अध्यापन के समय पाठ्यक्रम के अनुसार विषयों पर लेक्चर देना एक स्वाभाविक प्रक्रिया ही होती थी, लेकिन उसमें ऐसा कहने का अवसर बहुत ही कम मिलता था जो पुस्तकों में हो भी और पुस्तकों के चौखटे से बाहर भी हो, जो सोचने को विवश करे। मैं दर्शन को इसके अकादमिक बोझ से निकालकर रोजमर्रा के जीवन-अनुभव में बदल देना चाहती थी। हाँ, अंग्रेजी में 'Dice...Doodle...Droll...Dance... में मैंने ऐसा प्रयास किया था। बस, उतना ही उससे आगे और कुछ नहीं! प्रस्तुत पुस्तक *द्रष्टा दृश्य और दर्शन : एक चौथे आयाम की खोज* में भी मैंने ऐसा कुछ करने की चेष्टा की है जो दर्शन सम्बन्धी उपलब्ध पुस्तकों की सामग्री से भिन्न न होते हुए भी भिन्न है। यह विरोधाभास उपनिषदों का सत्य भी हो सकता है —तद् दूरे तद् अन्तिके अर्थात जो दूर होते हुए भी पास हो।

मैं कोई पेशेवर लेखिका नहीं हूँ, पर गुरुवर डा. सुरेश पन्तजी, जो हिंदी भाषा शब्दों के सिद्धहस्त शिल्पी है, के आशीर्वाद से श्री विद्या भूषण अरोड़ा जी की **रागदिल्ली (डॉट) कॉम (raagdelhi.com)** बेवपत्रिका में जब मैंने लिखना शुरू किया, तब मुझे यह अंदाज़ भी नहीं था कि बिना किसी लेखन परिपक्वता के मैं लिख कैसे सकती हूँ और मैं क्या लिख सकती हूँ? मैंने फ़ोन पर सिर्फ इतना ही कहा कि 'दर्शन-विषय' के अलावा तो मैं कुछ लिख नहीं सकती हूँ, मेरी सोच का दायरा उतना ही है। इसलिए कोशिश करूँगी यदि कुछ पढने लायक सामग्री पाठकों को दे सकूँ। फिर भी मेरा यह मानना था कि बाज़ार में दर्शन सम्बन्धी विषयों पर पर्याप्त पुस्तकें और सामग्री उपलब्ध है। चूँकि पुनरावृत्ति मुझे पसन्द नहीं है, इसलिए मैं सोच में पड़ गई कि मैं नया क्या लिख सकती हूँ। ऐसा कुछ लिखना चाहिए जो दर्शन के पारंपरिक लेखन से कुछ भिन्न न होते हुए भी भिन्न हो। इसी उधेड़ बुन के साथ मैंने अपनी स्वीकृति तो दे दी पर मन में कही घबड़ाहट भी थी शायद नहीं कर पाऊँगी। साथ ही साथ डर और चिंता भी कि शब्दों का

भंडार भी मेरे पास सीमित है। खैर, इस तरह संपादक महोदयजी को 'हाँ' तो कर दी, पर उसकी रूपरेखा अभी तक दिमाग में स्पष्ट नहीं थी। मूसल तो उठ चुकी थी, तो उसकी चोट तो सहना ही था।

यद्यपि विद्यार्थी काल के शुरूआती दिनों में मुझे दर्शनशास्त्र में कोई विशेष दिलचस्पी नहीं थी लेकिन मेरी स्नातकोत्तर कक्षाओं में आते आते कुछ ऐसे शिक्षकों से मार्ग दर्शन प्राप्त हुआ जिसने दर्शनशास्त्र के प्रति मेरे दृष्टिकोण को ही सम्पूर्णतः बदल दिया और फिर तो जटिल गुत्थियों से कुछ ऐसा लगाव सा हो गया कि उनमें रमना एक प्रकार के शौक में तब्दील हो गया। आज सोचती हूँ कि यदि ऐसे उदारचेता और गूढ़ अंतर्दृष्टि वाले शिक्षक नहीं मिले होते तो शायद मैं इस विषय से अपना जुड़ाव कभी महसूस नहीं कर पाती।

ऐसे शिक्षकों का सबसे पहला निर्देश ही यही होता था कि 'जो सीख कर आये हो उसे बाहर दहलीज़ पर छोड़ कर आओ'—यह सबक मुझे मन्त्र सा लगने लगा, क्योंकि किसी भी विषय को समझने की पहली शर्त होती है— पूर्वग्रहों का त्याग', ताकि विषय के सम्बन्ध में स्वच्छ, मौलिक और निरपेक्ष धारणाएँ जन्म ले सकें। चिंतन का कैनवास यदि एक 'खाली स्लेट' (Tabularasa) की तरह स्वच्छ हो और पुराने संस्कारों के बोझ से मुक्त हो, तो विषय की पक्षपातहीन और वास्तविक समझ विकसित की जा सकती है। जैसे भरे हुए घड़े में जल नहीं भरा जा सकता, वैसे ही विचारों के बोझ से दबे विद्वान नई धारणाओं को स्वीकारने में कठिनाई अनुभव करते हैं।

मैंने महसूस किया कि सभी दार्शनिक अपनी अपनी तरह से युक्ति और तर्क से भरपूर 'सोच की सूचनाएँ' तो देते हैं, जो हमारे चिंतन को हवा देकर उसकी आग को और भी अधिक प्रज्वलित कर देते हैं, तथापि दर्शन चिंतन का 'संग्रहालय' नहीं है, जहाँ पुराने विचारों को सजाकर रख दिया जाए। यह एक 'प्रयोगशाला' है, जहाँ चिन्तन का निर्माण खंडन और मंडन की प्रक्रिया से चलता रहता है। उदाहरण के लिए रसोई में खाना पकाते समय वह केवल पाक कला नहीं होती, वह एक रसायन शास्त्र का स्रोत भी होता है। जब हम नमक को सही समय पर डालते हैं या धीमी आंच पर खाना पकाते हैं, तो हम अनजाने में ही ऊष्मागति, द्रव और गैस की गति के नियमों का पालन कर रहे होते हैं। जब हम बेकिंग सोडा का उपयोग करते हैं और

उसे किसी खट्टी चीज़ (जैसे दही या नींबू) के साथ मिलाते हैं, तो कार्बन डाइऑक्साइड गैस निकलती है। यही गैस बुलबुलों के रूप में खाने को हल्का बनाती है। वैसे ही, जब हम अस्तित्व, सत्य, दुःख, सुख, भाषा, तर्क, भक्ति, पुनर्जन्म आदि विषयों के बारे में सोचते हैं, तो हम केवल विचार नहीं कर रहे होते हैं, हम अपने जीवन को 'पका' रहे होते हैं। क्योंकि दर्शन वह 'आंच' है जो कच्चे अनुभव को परिपक्व समझ में बदल देती है।

जिस तरह समुद्र की दो बूंदे और पेड़ के दो पत्ते कभी एक जैसे लगने पर भी एक नहीं होते हैं, उसी तरह दो चिन्तक कभी एक दूसरे के मत से सहमत नहीं हो सकते हैं। रसोई की सभी कच्ची सामग्री उपलब्ध होने पर भी उसे पकाने की शैली भिन्न भिन्न होने के कारण दो हाथों से बनाया खाना कभी एक जैसा नहीं होता है, उनका स्वाद कुछ अलग ही होता है। उसके पीछे होता है उनका पूर्वग्रह, संस्कार, पारिवारिक भूमिका तथा परिवेश का प्रभाव।

कुछ इसी तरह भारतीय दर्शन और पाश्चात्य दर्शन की सोच एक न होकर भी कुछ बिन्दुओं पर आकर अक्सर एक लगने लगती है, पर उनका बुनियादी फर्क समझकर, मैंने उसे अपने दर्शन से जोड़ने की कोशिश की है। अतः कहीं कहीं पाश्चात्य उदाहरणों के साथ साथ मैं भारतीय सन्दर्भ में भी चर्चा करने लगती हूँ। यह एक सोचा समझा कदम है। पाश्चात्य दर्शन जहाँ 'आणविक विश्लेषण' पद्धति पर ज़ोर देता है, वहीं भारतीय दर्शन 'सामग्रिक अनुभव' पर। मेरा प्रयास इन दोनों के बीच एक ऐसा सेतु बनाना है जहाँ तर्क का घाव, बोध के मरहम से भरा जा सके।

जिस तरह संगीत में अलग-अलग स्वर मिलकर राग-रागिनियों का निर्माण करते है, उसी प्रकार अलग-अलग दार्शनिक मत मिलकर 'सत्य' की समग्रता रचते हैं। सत्य कोई एक 'बिंदु' नहीं है, बल्कि एक 'विस्तार' है जिसमें परस्पर विरोधी बातें भी समाहित हो जाती हैं। इसे हम विरोधाभासों का उत्सव भी कह सकते है, जहाँ सभी विरोधी तर्क चिंतन के समुद्र में समा जाते है—चाहे शंकराचार्य का अद्वैतवाद हो या रामानुज का विशिष्टाद्वैत या Immanuel Kant का निरपेक्ष आदेश हो या नागार्जुन का शून्यवाद हो या Ludwig Wittgenstein का भाषा तत्व, Martin Heidegger का अस्तित्ववाद — सभी एक ही सत्य के अलग-अलग स्वरूप हो जाते हैं।

यूँ तो दर्शन की अपनी कोई निश्चित विषय वस्तु नहीं होती है, लेकिन सभी विषयों से चिंतन की सामग्री उधार लेकर, दर्शन उसे ब्याज़ सहित लौटा भी देता है, यानी सोचने की क्षमता में कुछ इज़ाफा ही कर देता है। इसलिए दर्शन तार्किक चिंतन तो है ही, उससे भी बढ़ कर 'देखना' है जो सिर्फ आँखों से नहीं अंतर्दृष्टि से 'देखना' सिखाती है। हम दुनिया को वैसे नहीं देखते जैसी वह 'है', बल्कि वैसे देखते हैं जैसे 'हम' हैं अथवा जैसा हम देखना चाहते हैं। दर्शन हमारे संस्कार और स्मृतियों के धुंधलेपन को साफ़कर विशुद्ध स्वरूप को देखने में सहायक सिद्ध होता है। जैसाकि बृहदारण्यक उपनिषद के मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य संवाद में कहा गया है — आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

मेरा यह लेख पाठकों को कुछ 'देने' के लिए नहीं, बल्कि उनके अनावश्यक बोझ को 'कम करने' की चेष्टा है। पारंपरिक सोच के बीज को बरक़रार रखते हुए चिंतन की नई से नई फसलों को उगाने का यह प्रयास मात्र है। लेकिन जिस तरह गंगा गंगोत्री से निकल कर कूदती फांदती विभिन्न मार्गों से गुजरती हुई गंगासागर में समा जाती है, वैसे ही हमारा चिन्तन रोज़मर्रा के जीवन के धूल भरे मैदानों को सींचते हुए 'स्वात्म' सागर में जाकर विलीन हो जाता है। दर्शन की सार्थकता 'कैसे सोचने' की असीम छटपटाहट में है, जो हमें अंधविश्वास और जड़ता से बचाती है। दर्शन सतही बातों के पीछे छिपे गहरे '**क्यों**' और '**कैसे**' को खोजने के लिए बेचैन रहता है। यह सिर्फ 'सिद्धांत' नहीं देता बल्कि हमें चलते रहने की राह दिखलाता है।

सत्य की खोज की यात्रा शुरू शुरू में डरावनी और अनिश्चित लगती थी, पर जैसे-जैसे कलम चलती गई, वह बोझ नहीं बल्कि एक 'सहज बहाव' बन गया। धीरे धीरे लिखने की शुरुआत हुई 'मूसलों से निपटना' आने लगा और साथ ही साथ सृजन का आनंद भी। उम्मीद है कि सहज लेखन ही पाठक के मन को छूने में सफल होगा।

'रागdelhi' बेव पत्रिका के सभी अंश 'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' की तरह बिना किसी लाग-लपेट के संपादक जी की टिप्पणियों और उनके द्वारा इस्तेमाल उपयुक्त चित्रों का संयोजन इस पुस्तक में किया गया है।

उनका यह आश्वासन “हम और आप रहें या न रहें यह डाटा ‘साइबर स्पेस में हमेशा सुरक्षित रहेगा” ने मुझे काफी बल दिया।

लिखने का क्रम तो ऐसा रहा कि जब जो विषय दिमाग में आता था उसी पर लिखना शुरू कर देती थी और धीरे धीरे इनमें क्रमबद्धता भी आने लगी। कई बार तो कुछ ऐसे मोड़ की तलाश में भटकता मन कोरी दीवार पर ही किसी चित्र की परछाई देखकर ही मानो भरपूर उत्साह से कंप्यूटर की दीवार पर छलक पड़ता था और तलाश कुछ समय के लिए थम जाती थी। हर रोज एक नया इम्तहान हर रोज एक नया सृजन जिसने मुझे समृद्ध किया है। ईमानदारी से कहूँ तो ये लेख सिर्फ मेरे लिए ही है, क्योंकि मैंने इनसे बहुत कुछ सीखा है।

पाठकों से अनुरोध है कि यदि किसी विचार से आप असहमत हैं, तो बेझिझक उसे उल्लेख करने का अधिकार आपको है, निहित त्रुटियों का दायित्व निःसंदेह मेरा है।

कृतज्ञता ज्ञापन किसका करूँ? डा. सुरेश पंतजी का, श्री विद्या भूषण अरोड़ा जी का, और मेरे मेधावी छात्रों का —डा. काकोली घोषाल, श्रीमती सुधा चौधरी, श्री अर्णव मंडल और मेरी छोटी बहनें श्रीमती सरला कपूर और डा. शशि मुख़र्जी का, जिनसे अक्सर मैंने अपनी बातों को साझा किया। ये सभी ह्रदय से मेरे स्नेह के हकदार हैं।

इसके अलावा मैं उन सभी सहयोगियों, सहायकों और सुधी पाठकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ, जिनके बहुमूल्य परामर्श ने मेरे चिंतन को सुसंवर्धित किया। साथ ही, उन सभी अदृश्य एवं अज्ञात प्रेरणा-स्रोतों का आभार प्रकट किये बिना यह कार्य अधूरा ही रहेगा, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस यात्रा में मेरा संबल बने।

‘ब्लू रोज़ पब्लिशर’ की टीम के सदस्यों की मैं आभारी हूँ, जिन्होंने अत्यन्त निपुणता के साथ प्रकाशन का दायित्व लेकर मुझे मुक्त किया।

मधु कपूर
गरिया, कोलकाता
संपर्क सूत्र: mattook@gmail.com

सूची पत्र

१ 1
मैं कहता हौं आंखिन देखी 2
२ 7
कालः पचतीति वार्ता 8
३ 13
रस गगन गुफा में 14
४ 19
अस्ति—अस्तित्व का झिंझोड़ 20
५ 24
नास्ति की खुन्नस 25
६ 29
काल की चपेट 30
७ 34
झूले पर झूलता वर्तमान 35
८ 39
द्विमुखी सत्य की संकल्पना 40
९ 44
जागें जथा सपन भ्रम जाई 45
१० 49
अनसुलझा समीकरण 50
११ 54
रसवती – बन्ध मोक्ष कारणम् 55
१२ 59
सभी मनुष्य मरणशील हैं 60

१३ 65
आत्मा शरीर का अनंत स्वप्न 66
१४ 72
आत्मा की धारणा: अपना समाज स्वयं चुनती है आत्मा!* 73
१५ 78
आत्मा की अमरता – सम्भावनाओं की गांठों का खुलना 79
१६ 84
पुनर्जन्म : स्वयं की वापसी या निराधार भ्रम 85
१७ 90
आकाशगंगा में चमकता दूसरा सितारा - यह ‘अन्य’ कौन? 91
१८ 96
जब बोलने की अपेक्षा न बोलना महत्वपूर्ण हो जाता है 97
१९ 102
इंतज़ार बकवास ख़त्म होने का! 103
२० 108
“कुछ कहना कुछ करना है” – जॉन ऑस्टिन के कथन का परीक्षण 109
२१ 115
शब्दहीनता और अर्थहीनता का समीकरण = शून्यता 116
२२ 121
अस्तित्व, चेतना और भाषा की अद्‌भुत लीला : काश्मीर शैवागम 122
२३ 127
संवाद, भाषा और तत्त्वबोध 128
२४ 133
भाषा दर्शन - क्या अर्जुन ने पक्षी की सिर्फ आँख देखी? 134

२५ 139
दो शब्दों के बीच शून्य स्थान की अहमियत 140
२६ 145
कथ्य सेतु भी है और अवरोध भी 146
२७ 151
संवेदना और अभिव्यक्ति के अन्तराल में अनकहा सौंदर्य 152
२८ 157
अनहद राग-रस 158
२९ 163
सुन्दर ही सत्य,सत्य ही सुन्दर 164
३० 168
आखिर सुन्दरता ही दुनिया का त्राण करेगी : Dostoevsky 169
३१ 174
अच्छा बनने की कठिनाइयाँ ! 175
३२ 180
अस्तित्व की उठान, सौन्दर्य का उन्मेष और नीति के नूपुर 181
३३ 186
‘यह है’ — ‘यह होना चाहिए’: दर्शनशास्त्र की गुत्थियाँ 187
३४ 192
कानून और नैतिकता: अनन्त धड़कनों में स्पंदित न्याय 193
३५ 198
सत्य की धुंध में न्याय का डगमगाता साया 199
३६ 204
कर्तव्य की बुनावट में अधिकार का ताना-बाना 205

१

(यह लेख काफी सहज ढंग से यह प्रतिपादित करता है कि लकीर का फकीर बनकर आप कभी सही नतीजों तक नहीं पहुँच सकते बल्कि आपको अपनी उत्सुकता और जिज्ञासा सदैव बनाए रखनी चाहिए। कोई भी स्थापित सत्य अंतिम सत्य हो, यह आवश्यक नहीं – इसलिए अपनी सत्य-अन्वेषण की प्रक्रिया को कभी विराम ना दें। लेख सचेत करता है कि कैसे आपकी आँखें और आपका दिमाग आपको धोखा दे सकता है बल्कि लंबे समय तक आपको पता ही नहीं चलता कि आप जो 'देख' रहे हैं वह असलियत में नहीं देख पा रहे हैं।)

मैं कहता हौं आंखिन देखी

कबीर के इस प्रसिद्ध वाक्यांश "मैं कहता हौं आँखिन देखी" में जिस 'आँखों देखि' का उल्लेख मिलता है वह कोई साधारण देखना नहीं है। इसका तात्पर्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष से कदापि नहीं है। उनका तात्पर्य उस अंतर्दृष्टि से है, जो स्थूल प्रत्यक्ष का अतिक्रमण कर जाता है, और पाठक को सत्य-अन्वेषण की प्रक्रिया को निरंतर बनाए रखने का आह्वान करता है। इस प्रसंग में एक बात उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा कि 'दर्शन' शब्द भी उस सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का संकेत करता है जो स्थूल आँखों से देखा नहीं जा सकता है। न्यायालय में तो साक्षी यानी प्रत्यक्षदर्शी की बात ही सबसे विश्वसनीय गवाह के तौर पर मानी जाती है– प्रत्यक्ष अर्थात इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान। लेकिन यदि यही प्रत्यक्ष ज्ञान हमें हर पल धोखा दे, तो आँखों पर विश्वास कैसे किया जा सकता है? प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्त कहते हैं जो एक बार धोखा दे उसका विश्वास कभी नहीं करना चाहिए, तो फिर इन्द्रियों पर विश्वास कैसे किया जाय? कबीर का कथन इस बात की पुष्टि करता है कि उधार के ज्ञान पर निर्भर रहने के बजाय जीवन के साक्षात अनुभव को ही ज्ञान का निचोड़ कहा जाना चाहिए।

इस सम्बन्ध में प्रसिद्ध न्यायाधीश Samuel Leibowitz कहते हैं कि साक्षी यानी प्रत्यक्षदर्शी अक्सर विश्वसनीय नहीं होते हैं। वह उदाहरण देते हैं कि किसी एक क्लब के डिनर में उन्होंने उस समय की विख्यात सिगरेट ब्रांड Camel का नाम लेकर लोगों से पूछा कि कितने लोग यह सिगरेट पीते हैं। जिन्होंने सम्मति में हाथ उठाया उनमें से उन्होंने पांच लोगों को चुना और एक टोस्ट मास्टर से पूछा – दिन में वह कितनी सिगरेट पीता है और कितने साल से पी रहा है? टोस्ट मास्टर ने जवाब दिया — दो पैकेट दिन में, बीस साल से। उन्होंने हिसाब लगा कर बताया कि पिछले २० साल में १४,००० हज़ार पैकेट! और कम से कम पचास हज़ार बार उसने अपनी जेब से सिगरेट का पैकेट निकाला होगा। उन्होंने पांचों व्यक्तियों को एक कागज के टुकड़े पर लिखने को कहा कि सिगरेट के पैकेट पर क्या है - ऊंट की

पीठ पर आदमी सवार है अथवा आदमी ऊंट को लगाम पकड़ कर ले जा रहा है। दो ने लिखा कि आदमी ऊंट को ले जा रहा है और अन्य दो ने लिखा आदमी ऊंट पर सवार है। केवल एक ने लिखा कि उसमें कोई आदमी नहीं है। उन्होंने पुनः कहा आप अपने पॉकेट से पैकेट निकाल के देखें। उसमें कोई आदमी नहीं था। इस तरह उन्होंने "क्या देखा और क्या समझा" ('seeing and perceiving') की करामाती दुनिया को अनावृत्त किया। पर इस चर्चा में दर्शन एक कदम और आगे जाता है। दर्शन हमें बताता है कि वास्तव में हम पूरी वस्तु कभी देखते ही नहीं। हम एक हिस्सा मात्र देखते हैं और पूरा विश्वास कर लेते हैं, या अनुमान कर लेते हैं।

सर्दी का मौसम, सुबह का समय, चारो तरफ कोहरा –आपने खिड़की से झांक कर देखा नीचे कोट पहने और टोपी लगाये कोई व्यक्ति जा रहा है। आपने अनुमान लगा लिया कि मेरा पड़ोसी हरिराम जा रहा है। पर आपने देखा था सिर्फ कोट और टोपी। दोपहर में हरिराम से मुलाकात होने पर आपने कहा, 'आप सुबह सुबह कहाँ जा रहे थे?' हरिराम जी ने कहा कि 'मैं तो अभी पहली बार निकला हूँ, सुबह किसको देख लिया आपने!' अर्थात आपने सिर्फ टोपी और कोट के बल पर अंदाज़ लगा लिया कि हरिराम जा रहा था और आपका अंदाज़ गलत निकला।'

आपने अच्छी खासी सीधी लकड़ी पानी में डुबो दी, लकड़ी टेढ़ी दिखाई देने लगी। आँखे तो गलत नहीं देख सकती, लेकिन पानी से निकालने के बाद वह पुनः सीधी हो जाती है। स्पर्शेन्द्रिय के द्वारा छूने पर वह सीधी ही प्रतीत होती है, पर आँखों को टेढ़ी क्यों दिखाई दी? वैज्ञानिक व्याख्या देते हैं प्रकाश के अपवर्तन के कारण लकड़ी टेढ़ी दिखाई देती है — यही तो बड़ा प्रश्न है कि प्रत्यक्ष को विश्वसनीय कैसे माना जाए!

इस टेबल को ही ले लिया जाए जो मेरी आँख के सामने रखी है, जहाँ बैठ कर मैं काम कर रही हूँ। मान लीजिये हम सभी इसे खुली आँखों से देख रहे हैं। क्या हम टेबल सचमुच देख रहे हैं? आप कह सकते हैं बिलकुल देख रहे हैं । इसके चार पैर है, ऊपर एक काठ का तख्ता लगा है, जो सामान, किताबें और कम्प्यूटर आदि रखने के लिए इस्तेमाल किया जाता है। पर मुझे लगता है— आपको कुछ गलतफहमी हो गई। मुझे कतई नहीं मालूम

कि यह तथाकथित-टेबल क्या है? मैंने तो टेबल का सिर्फ एक पैर या सामने वाला थोडा सा हिस्सा या फिर ऊपर की सतह देखी है। आपने क्या पूरी टेबल देख ली? ईमानदारी से यदि जवाब दें तो आपने सिर्फ एक हिस्सा देखा है। बाई तरफ से एक हिस्सा देखा, दाहिनी तरफ से दूसरा हिस्सा देखा लेकिन पूरी की पूरी टेबल देखना आपके लिए असंभव है। पुनः सोचकर देखें — आपने टेबल नहीं सिर्फ एक हिस्सा देखा है। किताब के कुछ पन्ने पढ़ कर क्या आप कह सकते हैं कि आपने पूरी किताब पढ़ ली? तो टेबल का एक हिस्सा देख कर कैसे कह सकते हैं कि यह सम्पूर्ण टेबल है? आपने जो देखा वह काठ का टुकड़ा मात्र है। मैं तो जानना चाहती हूँ कि यह टेबल आखिर क्या बला है! मान भी लें कि आपने अलग अलग हिस्सों को अलग अलग समय में देख लिया पर उन्हें जोड़ने का काम आपने कब और कैसे किया?

मान लिया जाए कि यह वस्तु टेबल है, तो फिर प्रश्न उठता है कि जैसी आप देख रहे हैं क्या वैसी ही मैं देख रही हूँ? या आपके बगल में बैठा दोस्त भी क्या वैसा ही देख रहा है — जैसा हम और आप देख रहे हैं? नहीं, क्योंकि हमारी आँखें अलग अलग है। दो व्यक्ति एक जैसी वस्तु कभी नहीं देख सकते हैं। हमारी इन्द्रियां पृथक पृथक है, इसलिए हमारा देखना कभी एक जैसा नहीं हो सकता है। यदि आप मुझे अपनी आँखे उधार भी दे दे (जबकि चिकित्सा विज्ञान में अभी तक ऐसा चमत्कार हुआ नहीं है), तो भी मैं आपकी तरह देखने में समर्थ नहीं हो सकूंगी, क्योंकि वह मेरी देह का हिस्सा बन चुकी है। पर बातों बातों में हम ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि 'जरा मेरी आँखों से देखो तब बात समझ में आयेंगी' पर वास्तव में वैसा होता नहीं है। हम अपनी आँखें नहीं बदल सकते हैं किसी से। इसके अलावा हमारे स्थान, हमारी आँखें और वस्तु पर पड़ती रोशनी बिलकुल अलग है, तो हम एक जैसा कैसे देख सकते हैं? हमारी दृष्टि की सीमा है, जो हमें अन्य के 'देखने' से पृथक करती है। हम सब उसका एक एक पहलू देखते हैं, इसलिए हम पूर्णता का दावा नहीं कर सकते। उदाहरण के लिए जब आप आडिटोरियम में बैठ कर किसी जलसे का आनंद लेना चाहते हैं

तो आप सामने क्यूँ बैठना चाहते हैं, क्योंकि वहां से साफ दिखता है। सामने वाले ज्यादा स्पष्ट और पीछे वाले कम स्पष्ट देख पाते हैं।

फिर भी एकबार मान लिया जाए कि हम सबने टेबल देखी—किसी ने स्पष्ट और किसी ने अस्पष्ट। पर अब आप ज़रा अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से देखे, क्या यह वही टेबल हैं? नहीं, यहाँ तो अणु-परमाणुओं का समूह दिखाई दे रहा हैं, जो बराबर नृत्यरत हैं। किन्तु यह टेबल तो एक ही जगह स्थिर है यह तो नृत्यरत नहीं है। आपने ठीक कहा, थोड़ा थोड़ा संदेह मुझे भी अब होने लगा है कि शायद हम ठीक नहीं देख रहे हैं। वास्तव में टेबल गतिशील है जबकि नंगी आँखों से देखने पर वह हमें वैसी दिखाई नहीं देती है। शक्तिशाली अणुवीक्षण यंत्र की सहायता से तो काठ की सतह सपाट न होकर पहाड़ों की तरह उबड़खाबड़ हो जाती है। पुनः एकबार हम अचम्भे में पड़ जाते हैं! क्या यह वही सपाट सतह वाली मसृण टेबल है? बिलकुल, वही है पर उसकी दास्तान बदल गई है। आपने आँखों से जो भी देखा सब झूठ था? अणुवीक्षण यंत्र जो कह रहा है वही सच है क्या? शायद भविष्य में इससे भी ज्यादा शक्तिशाली कोई वैज्ञानिक यंत्र का अविष्कार हो जाये तो हम और भी बहुत कुछ देख पायेंगे जो अभी नहीं देख सकते हैं। लेकिन फिर सच का निर्णय करना कठिन हो जाता है। यह अजीबोगरीब सवाल है, पर हम तो सच जानना चाहते हैं। आये दिन खबरों में सुनने को मिलता हैं – अमुक अमुक खबर के पीछे का सच क्या है? जो हमने देखा, या जो आपने देखा, या जो अनुसन्धानकर्ता ने देखा अणुवीक्षण यंत्र की मदद से। सच नहीं जान पायेंगे, किसने सच देखा और क्या देखा? हमने जो देखा उसे कामचलाऊ कहा जा सकता है।

आकाश के तारों को देखने के लिए हम अणुवीक्षण यंत्र का सहारा लेते हैं। मरने के बाद भी तारे अपनी रोशनी हम तक पहुँचा जाते हैं, क्योंकि कई तारों की रोशनी पृथ्वी पर पहुँचने से पहले ही अपने कक्ष में मृत हो चुके होते हैं। कितने आश्चर्य की बात है! क्या हमने कभी मृत व्यक्ति की श्वासें अपने तक पहुँचते देखी है? ज्यादा दूर न जाएँ, पृथ्वी घूमती है चौबीस घंटे पर हम स्थिर रहते हैं। हमें एहसास ही नहीं होता कि हम बराबर हिल रहे हैं। ऐतरेय ब्राह्मण ३.४४ के सन्दर्भ से यदि कहूँ तो —

स वा एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति, तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽहन एव तदन्तमित्वाऽथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वा । स वा एष न कदाचन्न निम्नोचित ।

(यद्यपि 'सूर्य उदित होता है और अस्त होता है' — ये कहना वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा प्रयोग किया जाता है। वास्तव में सूर्य न अस्त होता है, न उदित होता है।)

मैं तो किसी सिद्धांत पर नहीं पहुँच पा रही हूँ। विभिन्न परिप्रेक्ष्य में सत्य कैसे बदलता है, इसका यह सटीक दृष्टान्त है। ज्ञान तो हमारे प्रत्यक्ष, स्मृति, सन्दर्भ और अपेक्षाओं के द्वारा प्रभावित और निर्धारित होता है। डेविड ह्यूम कहते हैं जब एक गेंद दूसरी गेंद से टकराती है और वह हिलती है, तो हम मान लेते हैं कि पहली गेंद ने दूसरी गेंद को धक्का दिया। लेकिन हम कारण और उसके प्रभाव को ***देखते*** नहीं, केवल ***अनुमान*** करते हैं। क्या हमने कारण को देखा? नहीं—हमने केवल क्रम देखा। वस्तुतः हम **विश्वास** करते हैं कि 'यह् टेबल है', 'सूर्य अस्त होता है', 'सूर्य उदित होता है' 'पृथ्वी स्थिर है', 'सूर्य पूरब से पश्चिम की ओर चक्कर लगाता है' पर हम **जानते** है कि सूर्य स्थिर है, न पूर्व से उदित है न ही पश्चिम में अस्त होता है। पृथ्वी चौबीसों घंटे घूमती है, पर हम स्थिर रहते है।

पुनः कबीर के कथन 'आँखन देखि' का उल्लेख करूँ तो वह संकेत करता है, उन महारथियों का जो अपरोक्ष भाव से अपनी विद्या में महारत हासिल करते हैं। जैसाकि विख्यात सरोद वादक उस्ताद अली अकबर खान कहते हैं। रात्रि के समय उनके कमरे में राग रागिनियों का सूक्ष्म स्वरूप उन्हें दिखाई देता है, फलस्वरूप किसी अन्य की उपस्थिति उनके इस सूक्ष्म दर्शन में बाधा उत्पन्न करती है। संगीत में यह उनकी चरम सिद्धावस्था को दर्शाता है। वृहदारण्यक दर्शन की निम्न पंक्तियों से मैं इसका समापन करना चाहूंगी —आत्मा वा अरे द्रष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो। आत्मा के संबन्ध मे श्रवण, मनन और निदिध्यासन के अलावा उसका दर्शन भी आवश्यक होता है, जिसके बिना आत्मविद्या सम्पूर्ण नहीं होती है।

(मार्च ०६, २०२४)

२

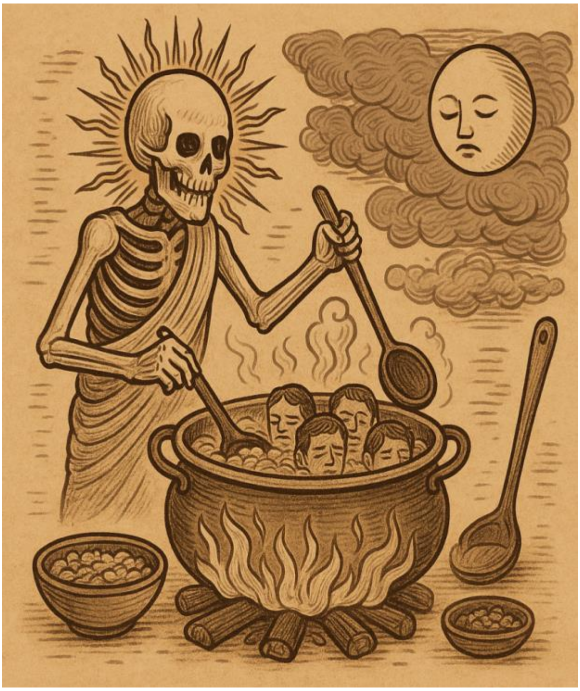

यक्षप्रश्न —का वार्ता:
अस्मिन् महामोहमये कटाहे सूर्याग्निना रात्रिदिवेन्धनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन भूतानि कालः पचतीति वार्ता ।।

(संसार एक मोहमयी कड़ाही है, काल एक रसोइया है ।दिन-रात इंधन है, जो सूर्याग्नि को बनाये रखता है । मास-ऋतु करछी की सहायता से निरंतर जीवों को धीरे धीरे पकाया करता है । अंततः हर जीव समय की अग्नि में पककर नष्ट हो जाता है ।)

कालः पचतीति वार्ता

'कालः पचतीति वार्ता — महाभारत के वनपर्व से उद्धृत यह पंक्तियाँ कहती हैं कि प्राणीजगत काल के हाथ से पकाए गए भोजन की तरह है, जिन्हें एक न एक दिन काल के गाल में समा जाना होता है। काल, सूर्यरूपी अग्नि, दिन-रात्रिरूपी इन्धन, भवसागर रूपी महामोहमय युक्त कड़ाही में महीने और ऋतुओं की करछी से उलटते पुलटते हुए जीवधारिओं को, पका कर खा रहा है। यद्यपि पकाने की क्रिया में इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है—यथा कड़ाही, अग्नि, करछी, सब्जी इत्यादि। ऐसा ही लोकव्यवहार में भी हम देखते हैं कि 'पचति' क्रिया के अंतर्गत कई छोटी छोटी क्रियाएं शामिल होती है, जैसे गैस जलाना, बर्तन उठाना, चावल को पानी से धोना चूल्हे के पास खड़े रहना, बीच बीच में चावल को चलाना इत्यादि। इन सभी क्रियाओं का फल होता है चावल के कणों का मृदु हो जाना।

साधारणतः क्रिया से किसी काम का होना या करना समझा जाता है अथवा किसी व्यक्ति या वस्तु की स्थिति का बोध कराना। व्याकरण दर्शन में क्रिया को एक गतिशील इकाई के रूप में देखा जाता है, जो स्थिरता के विपरीत है और किसी कार्य की परिवर्तनशीलता का बोध कराती है। क्रियाओं का स्वरूप एक तरफ 'होना' (भाव) है, जो 'दुख होना', 'प्रेम होना'—अस्तित्व की अवस्था को दर्शाता है। दूसरी ओर 'करना' (क्रिया) से संबंधित होता है जैसे 'खाना खाना', 'पढ़ाई करना'—यह सक्रिय कर्म को प्रकट करता है। क्रिया शब्द के आधार (धातु) और प्रत्ययों से मिलकर बनती हैं। क्रियाएँ काल, लिंग, वचन आदि के अनुसार अपना रूप बदलती हैं, जो वाक्य को पूरा करने के लिए आवश्यक होता है।

क्रिया के सन्दर्भ में और एक बात ध्यान रखने की है कि क्रिया हमेशा किसी लक्ष्य की ओर उन्मुख होती है, इसलिए क्रिया को चैतन्य की अभिव्यक्ति भी कहा जाता है। जैसे कार चलाना एक क्रिया है जो कर्ता की इच्छा से संचालित होती है। कार का चलना एक क्रिया है जो अपने कल-पुरजों के

तालमेल और उनके ठीक-ठाक रख-रखाव पर निर्भर करती है, पर जब तक कार-चालक न हो कार में कोई क्रिया नहीं हो सकती है। इसी तरह रसोई बनाने के सभी सरंजाम उपस्थित होने के बावजूद यदि रसोइया न हो या होने पर भी उसकी इच्छा न हो तो रसोई नहीं पक सकती है। अग्नि, जल, मसाले, कटी हुई सब्जी सभी सामान और रसोइया के उपस्थित रहने पर भी, इच्छा होने पर भी 'पचति' क्रिया संपन्न नहीं हो सकती है, क्योंकि चेष्टा का अभाव है। इस तरह क्रिया के साथ इच्छा, उद्देश्य और चेष्टा का कार्य कारण सम्बन्ध है, पर इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि फल के बिना क्रिया अधूरी है, अतः फलानुकूल व्यापार भी क्रिया का अंग कहा जाता है। भारतीय दर्शन में क्रिया केवल बाह्य कर्म नहीं, बल्कि अंतःप्रेरणा और संकल्प का भी द्योतक है। 'कर्म' और 'क्रिया' में सूक्ष्म अंतर है—कर्म फल की ओर इंगित करता है, जबकि क्रिया प्रक्रिया की ओर। लेकिन छींकना, श्वास लेना, रक्त-सञ्चालन इत्यादि ऐसी क्रिया है, जो कर्ता के इरादे से स्वतंत्र होती है।

ऊपर कही गई सारी बातें बिलकुल साधारण तरह से क्रिया का विश्लेषण है। इस लेख का उद्देश्य क्रिया को समझने का प्रयास है कि 'क्रिया' क्या है? फिर से बात दोहराती हूँ —पकाने की क्रिया में अग्नि का संयोग, घी का गरम होना उसमें बेली हुई रोटी डालना और उसे सेंके जाने पर निकालना सभी 'पचति' क्रिया के घटक है। क्रिया साध्य है अर्थात 'जो हो रहा है अथवा घट रहा है'। जब तक खाना पकता रहेगा 'पचति' क्रिया का प्रयोग होता रहेगा। एक बार खाना पक कर तैयार हो गया तो 'पचति' क्रिया का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि अब पकना सिद्ध हो चुका है। जिस तरह 'पानी बरस रहा है' यह वाक्य 'बरसने की क्रिया' को प्रकट करता है। जब तक पानी बरसता रहेगा क्रिया घटती रहेगी।

करछी को चलाना क्रिया का हिस्सा है, और साथ ही पानी के माध्यम से चावल कणों का क्रमशः नरम होना भी क्रिया का हिस्सा है, जो 'पचति' क्रिया का परिणाम है। भले ही कर्ता ने 'कैसे नरम होता है' ऐसा कुछ घटते हुए देखा नहीं है। हम जानना चाहते हैं कि ये क्रिया कैसे घटी? चावल पर क्रिया का प्रभाव कैसे पड़ा कि उसमे परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन का

कारण क्या है? संसार की अस्थिरता की चर्चा प्रायः सर्वत्र होती है कालांतर और देशांतर में संसार का रूप बदलता रहता है, इसकी पृष्ठभूमि में तथाकथित परिस्पंद क्रिया ही होती है। इसलिए संसार चलता रहता है, यह गतिशील है —संसरति इति संसार: कहा गया है। इन सभी बातों का सार इसी प्रश्न पर टिक जाता है कि क्रिया कैसे हुई?

हमने देवदत्त को कलकत्ते में देखा फिर किसी समय पटना में देखा तो हम अनुमान करते हैं कि एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुँचाने का कार्य क्रिया के माध्यम से हुआ है। पूर्व क्षणों के साथ अंतिम क्षण की सत्ता मिल कर कार्य की निष्पत्ति करती है। किन्तु पूर्व-पूर्व क्षणों के साथ उत्तर-उत्तर क्षणों का और अंतिम क्षण का पिंडीभूत समूह कैसे होगा? अर्थात पहले क्षण के साथ दूसरे क्षण का और दूसरे के साथ तीसरे क्षण का संयोग कैसे होता है? कहने के लिए हम कहते हैं कि अंतिम क्षण में कार्य संपन्न हुआ पर वास्तव में पूर्व क्षणों का संयोग मिलित रूप से कार्य को उत्पन्न करता है। किसी एक क्षण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इसलिए क्रिया को साध्य तथा फल को सिद्ध कहा जाता है। चूँकि हम आद्योपांत सभी क्षणों को एकसाथ संयुक्त नहीं कर सकते हैं अतएव हम सभी क्षणों पर **अखंड बुद्धि** आरोपित करके एक क्रिया की प्रतिष्ठा करते हैं। कहने का तात्पर्य है कि सामूहिक क्षणों की उपस्थिति को एक मान लेते हैं। जैसे किसी दौड़ते हुए घोड़े को दिखाने के लिए फिल्म में कई स्टील फोटो एकसाथ रख कर रील को ऐसे घूमाया जाता है जिससे दौड़ते हुए घोड़े का एहसास होने लगे। इसी तरह भिन्न भिन्न क्षणों में उत्पन्न क्रियाओं को युगपत एक नाम देते हैं—पचति आदि। वस्तुतः क्रिया प्रत्यक्ष नहीं होती है। क्रिया को अपरिदृष्ट ही कहा जाता है, क्योंकि हम उसे घटते हुए देख नहीं सकते हैं। चावल पकने में बीस मिनट यदि लगते हैं तो कौन से क्षण को उस शुभ मुहूर्त की संज्ञा दी जा सकती है, जिस क्षण चावल पक गया। क्योंकि कोई विशेष क्षण ऐसा नहीं होता है, जिसे हम या तो उपेक्षित कर दें या उसे सबसे महत्वपूर्ण क्षण मान लें। सभी क्षणों की एक सामूहिक प्रचेष्टा से चावल पकता है। अतः अंत में यह स्वीकार करना पड़ता है कि क्रिया अनुमान के द्वारा ही जानी जाती है। जैसे शिशु गर्भ में है, यह माँ के शरीर को देख कर अनुमान किया

जाता है। प्रसव होने के बाद शिशु के ‘आगमन की क्रिया’ ही नहीं रह जाती है, क्योंकि शिशु सिद्ध हो चुका है।

इस तरह क्रिया में जो क्रम है वह कालसापेक्ष होता है, और फल जो उत्पन्न हो चुका है उसमें क्रमिकता समाप्त हो जाती है, फिर भी दोनों को पृथक नहीं किया जा सकता है। बर्तन उठाने से लेकर क्रिया की अंतिम अवस्था तक ‘पचति’ क्रिया का प्रयोग होता है। क्रिया क्षणिक है अतएव एक एक क्षण का इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष कैसे होगा? और सभी क्षणों का इकट्ठा होना भी संभव नहीं है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। कुछ विद्वानों के अनुसार स्मृति-समारूढ होकर क्रम की एकात्मकता को सुरक्षित किया जाता है, पर वह अलग विवाद का विषय है। ‘पचति’ क्रिया का अर्थ है चावलों का नरम हो जाना, जो क्रिया की अंतिम निष्पत्ति (सिद्ध) कही जाती है।

जब हम ‘खा चुका ‘’पक चुका’ ‘दौड़ चुका’ ‘भोजन से तृप्ति बोध’ इत्यादि कहते हैं, तो यहाँ एक क्रम विशेष की बात नहीं होती है। भोजनादि की समाप्ति के पूर्व से लेकर अंत तक सारी स्थितियों— जैसे भोजन पकने की पूर्व की सभी स्थितियां, दौड़ समाप्त होने के पूर्व के सभी क्षण, भोजन आरंभ करने के पूर्व क्षण से लेकर अंतिम कौर तक — का बोध होता है, किन्तु इसे क्रिया नहीं कहा जा सकता है। यह क्रिया की सिद्धावस्था है, जिसमें कोई क्रम नहीं रहता है। कहा भी गया है —क्रिया की यदि कोई उपयोगिता न हो तो वह व्यर्थ है, इसलिए क्रिया की पूर्णता सिद्धावस्था में है — **विद्यां भारः क्रियां बिना**।

अज्ञेय की **'मैंने पूछा क्या कर रही हो'** की कविता से इस प्रसंग का समापन करती हूँ :

मैंने पूछा, यह क्या बना रही हो ?...

मुझे क्या बनाना है !

सब-कुछ अपने आप बनता है

क्या कर रही हो ? वह बोली: देख तो रहे हो

छीलती हूँ,नमक छिड़कती हूँ,

मसलती हूँ, निचोड़ती हूँ
कोड़ती हूँ, कसती हूँ,
फोड़ती हूँ,फेंटती हूँ,
महीन बिनारती हूँ, मसालों से सँवारती हूँ,
देगची में पलटती हूँ,
बना कुछ नहीं रही,
बनाता जो है – यह सही है-
अपने–आप बनाता है
देगची में सब कुछ झोंक रही हूँ,
दबा कर अँटा रही हूँ, सीझने दे रही हूँ ,
मैं कुछ करती भी नहीं–
मैं काम सलटाती हूँ ... **(मार्च १५, २०२४)**

३

रसनाचर्वणास्वादो जीवत्येव स्फुरतस्ततः।
न तु सिद्धस्य कस्यचित् कुतश्चित् संभवो रसः॥
(रसरत्नसमुच्चय)

(रस केवल 'चर्वणा' या आस्वादन की प्रक्रिया में ही जीवित रहता है। वह पहले से बना-बनाया कोई पदार्थ नहीं है, जिसे कहीं से प्राप्त किया जा सके, बल्कि वह अनुभव के क्षण में ही स्फुरित होता है।)

रस गगन गुफा में ...

मुझे अपने चाय की रेसिपी पर इतना अहंकार था कि घर में कोई भी मेहमान आ जाए चाय बनाने का बीड़ा तो मैं ही उठाती थी। तो उस दिन शाम के समय कुछ मित्रों को मैंने चाय पर आमंत्रित किया और अपनी वही चाय बनाई जिसके लिए मै खुद को महारथी समझती थी। चाय देने के बाद मेरा पहला वाक्य होता है, 'चाय कैसी लगी?' इस बार एक या दो को छोड़ कर किसी को भी कुछ खास नहीं लगी, और फिर सबने अपनी अपनी चाय के स्वाद का बयान करना शुरू कर दिया—किसी को दार्जलिंग, तो किसी को आसाम, तो किसी को काली चाय, किसी को अदरक वाली, किसी को रोस्टेड। मै तो चुप! बात सच थी।

वस्तुतः जब कोई पदार्थ जीभ के संपर्क में आता है तो उससे हमें जो स्वादानुभूति होती है, उसे आयुर्वेद में रस कहा गया है। यूँ भी रस की व्युत्पत्ति 'सरति इति रसः' ऐसी मानी गयी है, अर्थात जो सरणशील, द्रवणशील हो, प्रवहमान हो, वह रस है अथवा जिसका आस्वादन किया जाय, वह रस है —रस्यते आस्वाद्यते इति रस: । वैसे कोई भी भोज्य पदार्थ हो रस के बिना नीरस ही माना जाता है। आयुर्वेद में खाने पीने की किसी भी चीज के फायदे इन रसों के आधार पर ही निर्धारित किये जाते हैं। आयुर्वेद में 'पानकरस' का उदाहरण देकर जैसे यह सिद्ध किया गया है कि गुड़, काली मिरिच आदि मिश्रणवाले पेय पदार्थ में अलग-अलग उपादानों की तिक्तता और मिष्टता महसूस नहीं होती है, बल्कि एक विचित्र प्रकार के स्वाद की अनुभूति होती है।

हालांकि रस को जल का स्वाभाविक गुण माना गया है, परन्तु जल में भी रस की अभिव्यक्ति तभी होती है, जब वह महाभूतों के परमाणुओं के संपर्क में आता है। अतः प्रत्येक रस में अलग-अलग महाभूतों की प्रधानता पाई जाती है। उदाहरण के लिए मधुर रस का बोध पृथ्वी और जल के मिश्रण से, अम्ल रस का पृथ्वी और अग्नि के संयोग से, लवण रस का जल और अग्नि के संयोग से, कटु रस का वायु और अग्नि के संयोग से, तिक्त रस

का वायु और आकाश के संयोग से तथा कषाय रस का वायु और पृथिवी के संयोग से होता है। इन्हीं पञ्च महाभूतों के आधार पर उस पदार्थ का प्रभाव व्यक्ति के शरीर और मन पर पड़ता है। शरीर और मन की साम्यावस्था का कारण रसों का आनुपातिक संयोग ही कहा जाता है, जिसे therapeutic principle of harmony भी कह सकते हैं। रस हमारे सम्पूर्ण शरीर में रक्त के रूप में जीवन धारा है।

यद्यपि रस का अर्थ विभिन्न प्रकरणों में स्वाद ही होता है, पर साहित्य में रस का एक अन्य अर्थ— काव्यास्वाद अथवा काव्यानंद के रूप में भी ग्रहण किया जाता है। इसका उल्लेख करते हुए अथर्ववेद के *ऐतरेय ब्राह्मण* में कहा गया है कि कला और आत्मोन्नति का स्रोत रस है, जिसकी अभिव्यक्ति व्यक्ति को एक ऐसे उत्कर्ष के शिखर पर ले जाती है जो छंद और सुरों से परिपूर्ण होकर अपने स्वरूप का पुनः निर्माण करती है। उदाहरण के लिए अपने व्यक्तिगत शोक को महर्षि वाल्मीकि, रामायण के श्लोकों में परिणत कर देते हैं, जो उनकी आत्ममुक्ति का कारण भी बनता है। अतः रस शब्द का प्रयोग रसपूर्ण काव्य के अर्थ में भी होता है, जो पाठक या दर्शक के हृदय में निहित आवेग को उद्वेलित करता है तथा उसे एक जटिल सृजनात्मक प्रक्रिया के माध्यम से अलौकिक धरातल पर ले जाता है।

प्रश्न है कि रसों का निर्माण और उपलब्धि कैसे होती है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि रस व्यक्ति की संरचना में निहित स्थायी भाव से निर्मित होता है, जो अंततः व्यक्ति की मनःस्थिति को दर्शाता है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में नाटक के सन्दर्भ में ऐसे अनेक साधनों की चर्चा की गई है, जिससे रस की उत्पत्ति होती है— जैसे अभिनेताओं के हावभाव, उनकी भूमिका, उसके अनुसार मनःस्थिति को संयोजित करना, उन भावों का बार बार मंथन करना, पोशाक-सज्जा आदि का उपयोग। इस तरह रस का सिद्धांत भारतीय शास्त्रीय नृत्य, साहित्य, कला और रंगमंच के माध्यम से सौंदर्य का आधार बनता है। कश्मीरी शैव दार्शनिक अभिनवगुप्त का कहना है कि रस किसी भोज्य पदार्थ की तरह वस्तु में न होकर सहृदय श्रोता में ही उत्पन्न हो सकता है। सहृदय के अंत:करण में स्थायी भाव सदा विद्यमान रहता है, जैसे मिट्टी में गंध स्वाभविक रूप से रहती है, जो पानी बरसने के साथ साथ सोंधी खुशबू

के रूप में निखर आती है। वैसे ही क्रोध, प्रेम, दया, आदि स्थायी भाव हमारे अन्दर निहित है, जो परिस्थिति के अनुरूप प्रकट हो जाते हैं। दृश्य-श्रव्य काव्य के पठन अथवा श्रवण से जो अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है, वही काव्य-**रस** कहलाता है। रस के बिना किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं हो सकती है —न हि रसादृते कश्चिदर्थ प्रवर्तते।

प्रश्न है कि यह रस रहता कहां है? जाहिर है रस ग्राहक कणिकायें ही रस का आस्वादन करा सकती है। यदि किसी व्यक्ति की जिह्वा में इसका अभाव है, तो उसे रसास्वादन नहीं हो सकता है। इस तरह रस हमारी जिह्वा का धर्म कहा जाता है। यदि रस भोजन या शरबत में ही रहता तो उस भोजन को खानेवाले और शरबत को पीनेवाले सभी को एक जैसा स्वाद मिलना चाहिए पर शायद वैसा नहीं होता है, क्योंकि मेरी बनी हुई चाय सबको पसंद नहीं आई। उसका कारण था रस चाय में नहीं था, रस तो उन सबकी जिह्वा में था, इसलिए सबके लिए चाय रूचिकर नहीं हुई।

इस प्रसंग में आयरिश दार्शनिक बर्कले का उल्लेख करना प्रासंगिक होने के साथ साथ विचारणीय भी होगा। उनके अनुसार बाहरी वस्तुएँ, जैसे नदी, पहाड़, झीलें आदि सभी हमारी इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान के विषय बनते हैं। जिस वस्तु को हम जानने का दावा करते हैं, वह वस्तु इन्द्रियों के अभाव में रंगहीन, ध्वनिहीन, गंधहीन, स्वादहीन, स्पर्शहीन शून्य में बदल जाती है। हमारी सुनने की शक्ति यदि छिन जाय तो आहटें चली जाएंगी, आँखें बंद कर ले तो फूलों से लदा वृक्ष पल भर में गायब हो जायेगा. सोचने में यह बेतुका लग सकता है, पर ह्रदय पर हाथ रख कर सोचें तो यही सच है।

जब जंगल में कोई पेड़ गिरता है तो उसकी आवाज कोई नहीं सुनता। पेड़ का अस्तित्व तो वहीं ख़त्म। यदि जंगल को देखनेवाला कोई न हो, तो जंगल भी ख़त्म। (वैसे जंगल तो देख कर भी ख़त्म किया जा रहा है) । अंततः कहा जा सकता है यदि कोई देखने वाला न हो तो सम्पूर्ण विश्व पी.सी. सरकार के जादू की तरह गायब हो जाता है— "To be is to be perceived" का अर्थ है —'होने' का मतलब है 'दिखना'। तो बर्कले कहना चाहते हैं कि सब कुछ भ्रम है! नहीं! चोट लगने पर जो खून निकलता है, वह तो सच है। आपके शब्दों को मै सुन सकता हूँ, यह भी सच है। पर शर्त वही है कि मैंने कानों

से शब्दों को ग्रहण किया है। यदि कान नहीं होते तो मैं शब्दों को ग्रहण नहीं कर सकता था। यह जो संतरा मै बाज़ार में देख रहा हूँ, और खरीद रहा हूँ, वह वास्तव में है, क्योंकि मैं उसके रंग, गंध और स्वाद को चख रहा हूँ। यानी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण कर रहा हूँ, बिना इन्द्रियों के इनका कोई अस्तित्व नहीं है। सारा विज्ञान इसके सामने धराशायी हो जायेगा।

रस – रस्यते अनेन इति रसः

काव्य या नाटक की दृष्टि से देखे तो किसी नाटक को देख कर दर्शकों में जिस रस की उत्पत्ति होती है, उसका कारण तो नाटक के दृश्य, संवाद आदि माने जाते हैं। दर्शक किसी कारुणिक दृश्य को देख कर रो पड़ता है या किसी हास्य व्यंग की कविता को सुनकर हंस-हंस कर लोटपोट भी हो जाता है। कहने का तात्पर्य है कि रस श्रोता या द्रष्टा में नहीं बल्कि कविता या नाटक में होता है, जो श्रोता के भावों को उद्वेलित कर अलग अलग रसों की उत्पत्ति करता है। प्रश्न विचित्र है —रस का अवस्थान जिह्वा में है या विषय में? भोजन और कला की प्रस्तुति में दोनों मत ही भटकाते हैं।

इस प्रश्न को सुलझाने से पहले यह देख लिया जाय कि नाटक या काव्य कला की सामग्री हमें कहाँ से प्राप्त होती है? इसमें कोई शक नहीं कि नाट्य लोकानुकीर्तन अर्थात लोक जीवन से ही प्राप्त होता है। लोक जीवन के अनुभवों को कला के आकार में रूपांतरित करके कलाकार अपना स्वत्व खो देता है, किन्तु वह अपने व्यक्तिगत शोक, प्रेम, भय, आतंक और आनंद की अनुभूति का विरेचन संगीत, मूर्तिकला, साहित्य और नाटक में रूपांतरित कर देता है। पर यह सोच विचित्र लगती है कि जो रस भोजन में था वह भोक्ता का हो गया, जो रस नाटक में था वह दर्शक का हो गया। अभिनवगुप्त इस प्रसंग में कहते है कि श्रोता या दर्शक में भी यह रस तभी उत्पन्न हो सकता है, जब वह रसिकरंजन होगा यानी सहृदय होगा। जिन्हें शास्त्रीय संगीत का बोध नहीं है, वे इसे सुनकर भी आनंद की स्थिति में नहीं पहुँच सकते हैं। अतः रस दर्शक में ही रहता है, जो नाटक का करूण या प्रेम दृश्य देख कर करुण रस या रोमांच से भरपूर हो उठते हैं।

क्या यह कहा जा सकता है कि रस न तो अभिनेता में होता है और न ही श्रोता में, रस तो कला के प्रस्तुतीकरण में होता है, जिसका प्रदर्शन कर श्रोता को वह रस से सराबोर कर देता है। इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान में रखने की है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत में प्रत्येक राग एक विशिष्ट मनोदशा को प्रकट करता है और संगीतकार की चेष्टा होती है श्रोता में उस राग-रस को पैदा करना। यूँ देखा जाय तो कलाओं का प्राथमिक लक्ष्य दर्शकों को रस की अपूर्व अप्रमेय और अनिर्वचनीय अवस्था की समानांतर दुनिया में ले जाना है, जहाँ उसका दुःख भी आनंद में बदल जाता है। वास्तव जिंदगी में किसी आत्मीय की मृत्यु से जो शोक उत्पन्न होता वही नाटक में किसी आत्मीय की मृत्यु हमें आनंद से भर देती है। यह एक ऐसी 'ममत्व-परत्व-हीन' दशा है जहाँ मुंह से सिर्फ निकलता है 'वाह! क्या गजब का अभिनय था! क्रोध, घृणा, भय और ऐसी भावनाएं दर्शक के रस का विषय बन जाती है और नाटकीय कला से मुग्ध होकर वह आनंद से पूर्ण हो उठता है, जो उसकी सौंदर्य संवेदनशीलता को विकसित करता है। पारसमणि के स्पर्श से जैसे लोहा सोना बन जाता है, वैसे ही गायक और श्रोता के स्पर्श से आनंद रस अभिव्यक्त हो जाता है। इस सन्दर्भ में मैं एक घटना का उल्लेख करना चाहूंगी। मेरे एक प्राध्यापक जो एक प्रसिद्ध नैयायिक थे, वे अक्सर "वाक्यं रसात्मक काव्यं" वाक्य पर टिपण्णी करते थे कि यह वाक्य असंगत है, क्योंकि उच्चरित वाक्य/शब्द का अवस्थान आकाश है, जबकि रस का अवस्थान जल है, तो वाक्य रसस्वरूप कैसे हो सकता है?

पुनरावृत्ति करूँ तो रस अभिनेता/गायक में नहीं हो सकता है, क्योंकि वह तो उस थाली की तरह है जिसे रखे हुये भोज्य पदार्थ की कोई रसानुभूति नहीं होती है। रस दर्शक/श्रोता में भी नहीं हो सकता है, अन्यथा वह नाटक देखने क्यों आता, रस तो नाटक/संगीत की प्रस्तुतीकरण यानी नाट्य क्रिया/गायकी में होता है — 'नटे न रसः, नाट्य एव रस, न तु लोकः'। एक आशंका अभी भी रह जाती है। रस यदि श्रोता में नहीं है, नट में नहीं है, तो वह प्रस्तुतीकरण में कहाँ से आ टपकता है? इस प्रश्न का उत्तर अभी खोजना बाकी है!

पाठकों, अब तक मेरा अभिमान तिरोहित हो चुका था।

(मार्च २४, २०२४)

४

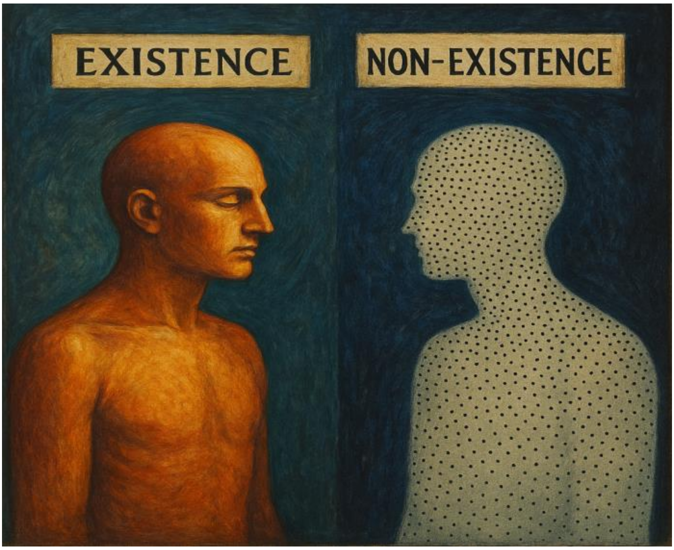

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरां उन्मत्तभूतं जगत्॥
(भर्तृहरि)

(सूर्य के उदय और अस्त होने के साथ, दिन और रात के चक्र से मनुष्य की आयु प्रतिदिन कम होती जाती है। सांसारिक कार्यों और जिम्मेदारियों के भारी बोझ के कारण हमें समय के बीतने का पता ही नहीं चलता। संसार में जन्म, बुढ़ापा, विपत्ति और मृत्यु को प्रत्यक्ष देखते हुए भी इसके प्रति भय उत्पन्न नहीं होता। ऐसा लगता है जैसे यह सारा संसार मोह रूपी मदिरा पीकर उन्मत्त हो गया है।)

अस्ति—अस्तित्व का झिंझोड़

दर्शनशास्त्र विभाग के छात्रों के बीच एक टेनिस टूर्नामेंट का आयोजन किया गया, पर दुर्भाग्यवश मैदान में खड़े होने के बावजूद छात्र मैच शुरू नहीं कर पा रहे थे। दर्शक चिल्ला रहे थे, तभी रेफरी ने शांत स्वर में कहा, “खिलाड़ी अभी इस विवाद में उलझे हैं कि ‘टेनिस बॉल’ का अस्तित्व है कि नहीं” । तो आज की वार्ता इसी अस्तित्व शब्द से शुरू करते है, जिसके बिना सारा जगत अस्तित्वहीन हो जायेगा, जिसे अक्सर हम संस्कृत ‘अस्ति’ (‘है’) शब्द का समानार्थी मानते हैं। ‘है’ शब्द अस्तित्व, सत्ता, विद्यमानता, मौजूदगी, वजूद, होना, सत्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

यूँ तो ‘है’ एक क्रिया पद है, जो वाक्य को पूर्णता प्रदान करता है, जैसे ‘यह टेबल है,’ ‘यह किताब है’ इत्यादि। पर मेरा उद्देश्य यहाँ ‘है’ का अर्थ विचार करना है। जैसे घोड़ा शब्द उच्चारण करने के साथ ही साथ घोड़ा पशु का बोध होता है, वैसे ही ‘है’ शब्द उच्चारण करने से किस अर्थ का बोध होता है? जाहिर है अस्तित्व, सत्ता इत्यादि का। मै देख सकती हूँ ‘मेरे कमरे में किताबें हैं, टेबल है, कंप्यूटर है यानी इनकी सत्ता है। कभी कभी कोई विशेष किताब कोई ले जाता है और वापस नहीं करता है, तो उसका अस्तित्व मेरे लिए ख़त्म नहीं हो जाता है, उलटे वह पुस्तक मेरी स्मृति को चाहे-अनचाहे झिंझोड़ती रहती है और कुछ ज्यादा ही कचोटती है।

किसी ने पूछा, क्या कर रही हो ?’ मैंने कहा ‘लिख रही हूँ’ यह ‘मै’ कौन है—’मैं’ अर्थात शरीर और मन की एक सांठ-गांठ। समय के साथ साथ शरीर और मन बदलता रहता है, शैशव से वृद्धावस्था तक किन्तु’ मै’ वही! हर दिन, हर क्षण बदलते रहने के कारण कई बार पुराने मित्र देख कर पहचान नहीं पाते हैं, कई बार पहचान लेते हैं तो कहते “अरे! कितनी बदल गई हो’। स्मृति की चादर अभी फटी नहीं है। पर उस शंकराचार्य का क्या करे जिन्होंने मंडन मिश्र की भार्या को शास्त्रार्थ में हराने के लिए मृत अमरु राजा के शरीर में प्रवेश करके, उनकी स्मृति को आधार बना कर कामशास्त्र में विजय हासिल की। लेकिन शंकराचार्य की वास्तविक सत्ता

का क्या हुआ? कुछ समय के लिए शंकराचार्य का ‘है’ अमरु के ‘है’ में बदल गया, उनका अपना अस्तित्व खत्म हो गया, और पुनः प्राप्त भी कर लिया।

लेकिन एक दिन मन उदास हो गया स्थानीय एक कुत्ता जो आस-पड़ोस की रात दिन निगरानी करता था, मध्य रात्रि में किसी ने उसकी टांग काट दी। अब चोरों को चोरी करने में आसानी हो गई। रात भर वह बिलबिलाता रहा। एक सहृदय ने सुबह उसे अस्पताल में भरती करवाया, पर टांग नहीं जुड़ी। यह वही कुत्ता है जो रात भर जाग कर हमें सोने देता था, पर अब चोरों से सावधान रहने के लिए हमें जागना पड़ता है।

अभी उस दिन की बात है, मै खाना बनाने में व्यस्त थी, इतने में पडोसी की बेटी चिल्लाती हुई आई, ‘आंटी, चलो, होलिका जल रही है, जल्दी चलो’। मैंने सोचा वह तो युगों पहले ही जल चुकी है। पर नहीं, यह होलिका की सत्ता वास्तव न होने पर भी एक **औपचारिक सत्ता** है, जिसे हम आरोपित करके प्रति वर्ष जलाते हैं। यदि शब्दार्थ की औपचारिक सत्ता नहीं मानी जाए तो अतीत की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्तमान में वर्णन नहीं किया जा सकेगा। अतएव व्यवहार में त्रिकालता ही देखी जाती है। जैसे किसी नाटक के परिप्रेक्ष्य में कहा जाता है, ‘जाओ देखो जाकर, कंस मारा जा रहा है, या मारा जाएगा, अब जाकर क्या करोगे, कंस मारा जा चुका है’ इत्यादि। इस तरह बाह्य जगत में जो वस्तुएँ नहीं हैं, वे भी बुद्धि का विषय बन जाती है।

किस्सा अभी ख़त्म नहीं हुआ था कि इतने में पड़ोसी का बच्चा रोता हुआ आया वह कमरे में घुस नहीं पा रहा है, क्योंकि वहां सांप है। मै तो घबडा गई। करछी, चिमटा जो था हाथ में लेकर दौड़ी सांप को पकड़ने, अरे सांप कहाँ? यहाँ तो रस्सी पड़ी थी! मेरे दिमाग में खुजली होने लगी। बच्चा रोया, दौड़ा और लिपट गया डर से, तो सांप का अस्तित्व सच था बच्चे के लिए, अन्यथा वह क्यों डर कर भागता? भ्रम एक ऐसी 'असामान्य' मानसिक स्थिति हैं जिसे हम अस्वीकार नहीं कर सकते हैं। मनोरोगी को कभी कभी यह आभास होता है कि ‘वह निरंतर पुलिस की निगरानी में है’, या ‘मैं दुखी हूं’। मनोचिकित्सक उसके इस भ्रम को असामान्य मानसिक अवस्था कह

कर चिकित्सा करते हैं। पर रोगी क्या करे उसका डर और दुःखी होना दोनों सच है? चिकित्सक भी भ्रम को विचित्र गलती के रूप में न देख कर, एक दिलचस्प खिड़की के रूप में देखता है। यह भी दुनिया को देखने का एक नजरिया है। कोई कोई भ्रम को अर्द्धसत्य भी कहते हैं, पर प्रश्न है कि पूरा सत्य जानने का दावा तो हममें से कोई नहीं कर सकता है।

लो ! सुबह सुबह मेरा सिर दर्द शुरू हो गया। इतना बुरा सपना देखा कि अब सारा दिन ऐसी खुमारी रहेगी कि मैं बे-काम हो जाऊँगी। लोग कहते हैं सपना सच नहीं होता पर मै क्या करूँ, इस दर्द को तो झेलना ही पड़ेगा, जो सच है।

भारतीय दर्शन में तो *आत्मा* की चार अवस्थाओं की बात कही गई है — जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति। एक चौथी अवस्था *तुरीय* कही जाती है, जो इन तीनों से परे है। *स्वप्नावस्था* में जीवात्मा मन *और* सूक्ष्म इंद्रियों के साथ वही अनुभव करता है, जो बाहरी इंद्रियों के द्वारा अनुभव कर चुका होता है। जब बाहरी इंद्रियाँ और मन की क्रियाएँ भी *निष्क्रिय* हो जाती है, तो वह अवस्था *सुषुप्ति* कही जाती है। ये सभी अवस्थाएं हमारे लोक व्यवहार में वास्तव है, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

ज्यादा दूर क्यों जाऊँ—अपने लन्दन वासस्थान के समय क्या हमने '२२१ बी, बेकर स्ट्रीट' खोजने की कोशिश नहीं की थी, जो प्रसिद्ध जासूस शर्लक होल्म्स का वासस्थान कहा जाता है, तथा आर्थर कॉनन डायल की कहानियों का एक काल्पनिक चरित्र है? ऑथेलो, वास्तव दुनिया में न होने पर भी शेक्सपियर के नाटक के पात्र रूप में अस्तित्वशील है। इसी तरह 'ख-पुष्प', 'शश-श्रृंग', अर्थहीन नहीं है, अन्यथा बिना अर्थ समझे हम कैसे कह सकते हैं कि यह अर्थहीन है। कोई कोई तो बंध्या-पुत्र और round-square (चतुष्कोणीय वृत्त) की सत्ता को भी स्वीकार करते हैं, वास्तव न भी हो तो भी यह सत्ता बुद्धिस्थ तो होती ही है। यदि इन शब्दों की अर्थ-सत्ता न मानी जाय तो हमें किसी प्रकार से अर्थ-बोध नहीं हो सकता। किसी ने मुझे 'चोर, बदमाश' कह कर गाली दी, मैं जानती हूँ मैं चोर नहीं हूँ, फिर भी मुझे दुःख होता है, कारण गाली के पीछे छिपी सत्ता मेरे जेहन में कहीं चुभ चुकी है।

अतएव हम इस निष्कर्ष पर आ सकते हैं कि 'है' का प्रयोग असंभव, संभावित तथा वास्तव सभी अर्थो में किया जा सकता है। यहाँ तक कि निषेधात्मक वाक्य जैसे 'वृक्ष नहीं है' में भी पहले हम वृक्ष का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, फिर उसका निषेध करते हैं। सोचने की क्षमता हमारे अस्तित्व को प्राणदान देती है। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है देकार्ते का सिद्धांत I think, therefore, I exist. सपने हो, भ्रम ज्ञान हो, झूठे आरोप हो, काल्पनिक सत्ता हो, आभासिक सत्यता हो, सभी हमारे बुद्धि के दायरे से जुड़े हैं।

वैसे सत्ता शब्द का लाक्षणिक प्रयोग आजकल राजनैतिक सत्ता के रूप में काफी चर्चा का विषय बन चुका है। हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि उसका सम्बन्ध भी राजनीतिज्ञों के अस्तित्व संकट से जुड़ा हैं। राजनीतिज्ञ आपसी तनाव व टकराहट को झेलते हुए अपने अस्तित्व या वजूद की रक्षा में जुटे रहते हैं। हम सभी किसी न किसी अर्थ में अपने अस्तित्व की रक्षा का बचाव करते रहते हैं। शायद इसी कारण नागेश, प्रसिद्ध वैयाकरण कहते हैं—'दुमकटा कुत्ता भी कुत्ता ही कहलाता है उसके अस्तित्व को हम नकार नहीं सकते हैं', (छिन्नपुच्छे शुनिश्वत्वव्यवहारवनमान्ते तत्त्वं लोकन्यायसिद्धम्)।

'वृक्ष है' कहने का इतना ही तात्पर्य है कि वृक्ष में 'आत्मभरण' की क्षमता है अर्थात 'स्वयं को बचाए रखने की क्षमता उसमे है'। इसी तरह जो व्यक्ति मृत्यु के करीब हो, उससे यदि आगत व्यक्ति पूछे, 'क्या चल रहा है?' उसका सीधा उत्तर होता है—'किसी तरह दिन कट रहा है'। अर्थात बचे रहने की कोशिश कर रहा है, जिसे हम अस्तित्व से जूझना (struggle for existence) भी कहते हैं। 'आत्मभरण की चेष्टा' 'है' क्रिया का फल है, अर्थात स्वपोषण में लगा है। बंगला में लोग स्पष्ट भाषा में कहते हुए सुने जाते हैं —बेंचे आछि अर्थात किसी प्रकार से बचे हुए हैं। यह अनुभव का विषय है तर्क का नहीं। लेकिन यह विखंडन ही मुझे ख़त्म होने से रोकता है, और मेरे अस्तित्व को विस्तार देता है।

(अप्रैल ०१, २०२४)

५

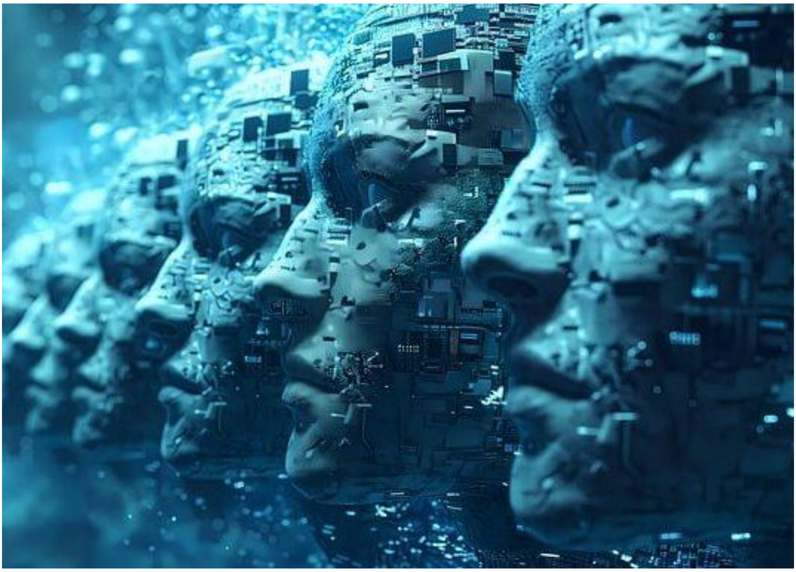

(अस्ति और नास्ति का रिश्ता ही कुछ ऐसा है कि एक के बिना दूसरा अर्थहीन हो उठता है। नास्ति यानी अनंत संभावनाओं का स्रोत। बीज में निहित है पेड़ होने की सम्भावना, जो उसे ठेलता है और धीरे धीरे पेड़ बन जाता है। पेड़ बन जाने पर वह पुनः बीज देने लगता है और पुनः पेड़ बन जाने की यात्रा शुरू हो जाती है। भाव और अभाव की भी यह यात्रा निरंतर इसी तरह चलती रहती है। जिनके पास तथाकथित सब कुछ है, उन्हें भी रिक्तता या अभाव का एहसास होता है, और जिनके पास 'कुछ नहीं' है उन्हें भी पूर्णता का बोध होता है। अंकशास्त्र के शून्य का मूल्य कौन नहीं जानता! उसी कड़ी में 'होने ' और 'ना होने' के विरोधाभासी संबंध के बारे में सहज सुंदर शैली में समझिए।)

नास्ति की खुन्नस

अभाव की धारणा दार्शनिक महल में शताब्दियों से चिंतकों के लिए पहेली बनी हुई है। अभाव क्या है? किसी भी चीज़ की अनुपस्थिति। जब आप पूछते हैं: 'वह तस्वीर कहां है जो यहां टंगी थी?' मतलब होता है 'तस्वीर यहाँ नहीं है' अर्थात मुझे उसका अभाव खल रहा है। सामान्यतया इन्हीं प्रश्नों को हम दर्शन की कक्षा में भी आलोचना करते हैं। अभाव की स्थिति 'न होने' का संकेत करती है। माँ ने कहा, 'देखो, वहीं टंगी होगी', मैंने कहा, 'नहीं है, मैंने देख लिया, नहीं है वहां'। देखने का एकमात्र उपाय है चक्षुरिन्द्रिय, और आँख से उसी वस्तु को देख सकते जिसके साथ आँखों का संपर्क होता है, पर जो है ही नहीं उसे मैंने कैसे देख लिया? चक्षुरिन्द्रिय का संपर्क वस्तु से हुआ ही नहीं तो कैसे देखा? स्पष्ट है अभाव-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि वहाँ विषय और इन्द्रिय का संबंध ही नहीं होता है। प्रश्न है कि 'दीवार पर तस्वीर का अभाव' कहने पर हमारे सामने कौन सा पदार्थ प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित होता है? सीधा उत्तर होता है खाली दीवार! अतएव मैंने कैसे देखा तस्वीर नहीं है? तस्वीर का अभाव हमारे वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान 'मैंने देखा' को चुनौती देता है।

कुछ लोगों का कहना है कि अभाव नकारात्मकता की बात करता जरूर है, किन्तु बिना भावात्मक ज्ञान के अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता है। तस्वीर के अभाव का ज्ञान बिना तस्वीर के ज्ञान के नहीं हो सकता है। अतः तस्वीर आधेय है, जिसका अभाव किसी न किसी अधिकरण, जैसे दीवार, पर होता है। हम आये दिन सुनते हैं धन का अभाव, खाद्य का अभाव, पानी का अभाव, इनके गैर-अस्तित्व को हम स्वीकार करते हैं। लोकव्यवहार में हम मानते हैं कि ज्ञान का कोई न कोई विषय अवश्य होता है, तो 'नास्तिप्रत्यय' का भी विषय होना चाहिए। इस सन्दर्भ में अभाव-ज्ञान की पहेली को सुलझाना जरूरी और महत्त्वपूर्ण है। पर उसके पहले यह समझ लेना जरूरी है कि अभाव ज्ञान के विषय को प्रतियोगी कहते हैं और जब तक प्रतियोगी का ज्ञान नहीं होता है, अभाव का ज्ञान नहीं हो सकता। जैसे यदि

हम कहें कि 'कमरे में भूत नहीं है', तो इसका अर्थ हुआ हमने कभी कमरे में भूत देखा था जो अब नहीं है। भूत का अभाव यदि है तो उसकी सत्ता का अनुभव कभी न कभी तो होना ही चाहिए।

लेकिन हमें ध्यान रखना चाहिए कि अभाव अलीक पदार्थ जैसे आकाश-पुष्प, पक्षीराज घोड़ा शरलॉक होल्म्स, round square (चतुष्कोणीय वृत्त) के समान नहीं है, जिनका अस्तित्व ही नहीं है। इन सबको नकारने के पहले हमें इनकी सत्ता माननी पड़ेगी, नहीं तो शून्य में हाथ मलते रह जायेंगे। आर्थर कोनन डायल की कहानियों में शरलॉक होल्म्स का अस्तित्व है, पर हमारे चारो तरफ की वास्तव दुनिया में उसका अभाव है। सार्त्र, जो एक अस्तित्ववादी दार्शनिक हैं, अभाव की उपस्थिति को अंजाम देते हुए कहते हैं, "काफी हॉउस में मैं पियरे से मिलने गया पर उसे वहां न देख कर 'उसके अभाव की उपस्थिति मैंने अनुभव की' और मेरा मन झुंझला गया।

अतएव ठोस वस्तुवादी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वस्तु का न होना (अभाव) उतना ही सत्य है, जितना वस्तु का होना (भाव)। एक मकान अपने निर्माण से पहले या उसके नष्ट होने के बाद जमीन पर अस्तित्वहीन हो जाता है, लेकिन यह अस्तित्वहीनता भी ज्ञान पैदा करने में समर्थ होती है—ज्ञान का आकार इस प्रकार होता है 'मकान नहीं है', जो '*नास्ति*' के रूप में ज्ञान का विषय बनता है।

इतना तो स्पष्ट है कि अभाव एक 'नकारात्मक उपस्थिति' है। न्याय दर्शन में इसे सकारात्मक श्रेणी से भिन्न एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। *अभाव का* अस्तित्व है—सुनने में विरोधाभास लगता है, जैसे 'तस्वीर है' और 'तस्वीर नहीं है' दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। दोनों एक साथ नहीं रह सकते है। एक सत्य है, तो एक मिथ्या है।

अभाव के संदर्भ में हम एक और शब्द का प्रयोग करते है वह है — 'कुछ नहीं', 'कोई नहीं' शब्द है, जिनका अर्थ कुछ नहीं, कोई नहीं होता है। इसका तात्पर्य भी किसी वस्तु के अभाव से ही होता है। दृष्टान्तस्वरूप एलिस (Alice in Wonderland में) कहती हैं—"रास्ते में 'कोई नहीं' हैं।" राजा ने थोडा क्षुब्ध होकर कहा— "मैं चाहता हूँ मेरी आँखे ऐसी होती जो

‘कोई नहीं’ को देख पाता वह भी इतनी दूर से।” राजा यहाँ एलिस की प्रशंसा करता है कि उसमें “कोई नहीं”, “कुछ-नहीं” को देखने की क्षमता है। अनुभव में ऐसे बहुत दृष्टान्त मिलेंगे जिनका लक्ष्य ‘कोई नहीं’, ‘कुछ-नहीं’ की व्याख्या करना है। जैसे छिद्र, शून्य स्थान, कमी, नुकसान, स्तब्धता, खालीपन, खाली स्थान इत्यादि। अभाव खालीपन का एहसास है। जिसके पास कुछ भी नहीं है, वह भी खालीपन महसूस करता है जिसके पास वस्तुतः सब कुछ है वह भी खालीपन महसूस करता है। ख़ालीपन में बहुत सी चीज़ों को समाहित करने की ज़बरदस्त क्षमता होती है। गिलास ख़ाली है, इसलिये इसे भरा जा सकता है। व्यक्ति खालीपन महसूस करता है क्योंकि उसे किसी ऐसी चीज़ की चाहत है, जो उसे पूर्ण बनाती है। भाव की धारणा का जब निषेध किया जाता है, तो विपरीत अ-भाव की सृष्टि होती है। चमत्कार तो तब होता है जब भाव और अ-भाव का मिलन हो जाता है और दोनों संश्लेषित हो जाते हैं ।

The Last Mona Lisa पुस्तक के प्रारम्भ में लेखक Jonathan Santlofer लिखते हैं कि पेरिस के ल्युवर म्युजियम से मोनालिसा का चित्र गायब हो गया। यह खबर सुनकर उस स्थान को देखने के लिये लाखों की तादाद में दर्शक उपस्थित होते हैं, जहाँ मोनालिसा का चित्र था। दर्शकों के अनुरोध पर ‘उस कलंकित दीवार’ को हफ्तों खाली रखा गया, क्योंकि फोटोग्राफर आते थे ‘मोनालिसा के चित्र के अभाव की उपस्थिति’ को कैमराबंदी कर ले जाते थे खाली दीवार की फोटो। अभी कुछ दिन पहले मैंने किसी अखबार में पढ़ा था कि बामियान की मूर्ति को जिस जगह डायनामाईट से उड़ा दिया गया था उस खाली गड्ढे को देखने के लिए हजारों पर्यटक रोज आते हैं।

साधारणतः अभाव को "शून्य" का समार्थक भी कहा जाता है, जिसे हम रिक्त या खाली स्थान मानते हैं, जहाँ कोई वस्तु नहीं रहती। पर बौद्ध दार्शनिक इसे पारमार्थिक तत्व मानते हैं। "शून्य" अर्थात जो सत्, असत्, सदसत् और सदसद्विलक्षण, इन निम्नलिखित चार कोटियों से इतर/ मुक्त कहा जाता है. जैसे —

- **अस्ति** (विद्यमान है).

- **नास्ति** (विद्यमान नहीं है),
- **तदुभयम्** (एक साथ ही अस्ति नास्ति दोनों) तथा
- **नोभयम्** (अस्ति नास्ति दोनों कल्पनाओं का निषेध) ।

बौद्ध मानते हैं कि व्यावहारिक रूप में जो सत्य दिखाई पड़ता है, वह असत्य या मिथ्याभास होता है, वह सिर्फ व्यावहारिक सत्य होता है। सत्य पारमार्थिक अर्थ में दिखाई नही पड़ता है पर सत्य होता है। बुद्धि से यह सत्य पकड़ा नहीं जा सकता, केवल अनुभव से ही हम उस निःशब्दता को पकड सकते हैं, जो अस्ति और नास्ति से परे है। अतः शून्य कोई निषेधात्मक वस्तु नहीं है, शून्य का विवेचन बहुआयामी है।

उदाहरण के लिए किसी क्षेत्र का मानचित्र उस क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता है, लेकिन मानचित्र को वास्तव क्षेत्र कहना न केवल एक बेतुकापन है, बल्कि एक विरोधाभास भी है, क्योंकि काश्मीर के मानचित्र की तुलना काश्मीर की वास्तव सुन्दरता से नहीं की जा सकती है। अतः यह कहने में कोई हर्ज नहीं है कि अभाव हमेशा अपने भाव-प्रतियोगी के द्वारा निर्धारित होता है। 'दीवार पर तस्वीर टंगी नहीं है' कहने का तात्पर्य है कि 'ऐसी दीवार जो तस्वीर के अभाव से विशिष्ट है' अर्थात दीवार विशेष्य है, और उसका विशेषण है 'तस्वीर का अभाव'। अंत में अज्ञेय की 'मैं वहाँ हूँ' के एक अंश से इस लेख का समापन करती हूँ–जो इस द्वंद्व की ओर इंगित करती लगती है :

दूर-दूर-दूर...मै वहां हूँ
यह नहीं कि मैं भागता हूँ
मै सेतु हूँ —जो मैं हूँ और जो होगा उसको मिलाता हूँ
मैं हूँ, मैं यहाँ हूँ, पर सेतु हूँ इसलिए
दूर-दूर-दूर...मैं वहां हूँ.
किंतु मैं वहाँ हूँ तो ऐसा नहीं है कि मैं यहाँ नहीं हूँ
मैं दूर हूँ, जो है और जो होगा उसके बीच सेतु हूँ
(कविता संग्रह 'सन्नाटे का छंद' से)

(अप्रैल १६,२०२४)

६

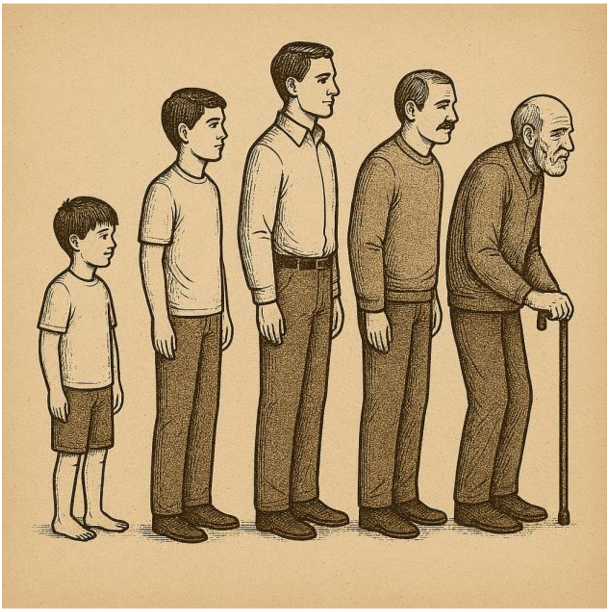

(काल का व्यक्तित्व बहु आयामी है। हमारी हर क्रिया में काल कहीं न कहीं नेपथ्य में छिपा रहता है। कोई कहता है यह नित्य अपरिवर्तनीय, निरपेक्ष है। कोई कहता है यह अनित्य, क्षणिक है, कोई कहता है सापेक्ष है, कोई कहता है इसका अस्तित्व ही नहीं है। हम एक अजीब सी उलझी हुई पहेली में फंसते जाते है, लेकिन इसके बीच से ही रास्ता भी हमें ही तलाश करना पड़ता है। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों के बीच जारी इस बहस में पथ खोजना ही इस लेख का उद्देश्य है। अस्ति और नास्ति का रिश्ता ही कुछ ऐसा है कि एक के बिना दूसरा अर्थहीन हो उठता है। यह लेख काल के विभिन्न आयामों पर है।)

काल की चपेट

'अरे! तू इतना बड़ा हो गया' अचानक मेरे मुंह से निकल गया। करीब पचीस साल बाद मैं उसे देख रही थी। गुजरे सालों में जो क्रमबद्ध परिवर्तन उसमे हुआ उसका साक्षी कौन है? यह परिवर्तन होते किसने देखा? फ़िलहाल किसी ने नहीं। सोते-जागते, उठते-बैठते हम तो बस अनुभव में देखते है कुछ घटनाएँ, जीवन–मृत्यु, दिन–रात, सूरज का निकलना-अस्त होना, मौसम का बदलना और शैशव से वृद्धावस्था तक पहुंचना इत्यादि। 'हो गया', 'हो चुका है', 'हो रहा है', 'होता है', 'होने वाला है', 'होगा' इत्यादि क्रियाओं का प्रयोग हम भाषा में हमेशा करते हैं। पर सोचते हैं कोई तो इनका नियामक होगा? शास्त्र इस नियामक को 'ऋत' नाम देते हैं, और इस उत्तर में ही काल की अवधारणा का गहरा संकेत भी मिल जाता है।

दो घटनाओं या क्रियाओं के अन्तराल को हम काल कहते हैं। 'काल' शब्द 'कल्' धातु से निष्पन्न होकर 'आवाज़ करना' और 'गणना करना' के अर्थ तक में प्रयुक्त होता है। पर काल को किसी ने क्या देखा है? घड़ी की टिक-टिक, हमारे प्राणों की अदृश्य धड़कन हमें आगाह कर देती है कि काल है, जिसका सम्बन्ध क्रिया से है, पर हम क्या उसे देख पाते है? हम देखते हैं घटनाओं को, पर इस रंगमंच के परदे के पीछे क्या हो रहा है, हम नहीं जान पाते हैं। बौद्ध आचार्य नागार्जुन तो काल का पारमार्थिक अस्तित्व ही नकार देते हैं और उसे 'स्वभाव शून्य' करार कर देते हैं। इस प्रश्न पर हम इस लेख के अगले हिस्से में चर्चा करेंगे। अभी हम अपने अनुभव को आधार बनाकर आगे बढ़ेंगे कि घटनाएँ घट रही हैं।

सवाल है कि सृष्टि का आरम्भ तो काल में ही घटित हुआ होगा? वैज्ञानिक मानते हैं कि 'महाविस्फोट' (बिग बैंग) ही ब्रह्मांड और काल दोनों का मूलस्रोत है। नासदीय सूक्त के उद्गाता ऋषि, महाशून्य की अवस्था से ब्रह्मांड के आने तक जो करोड़ों वर्ष बीते हैं, उसका लेखा-जोखा करके काल का अनुमान करते हैं, क्योंकि निरपेक्ष काल को प्रत्यक्ष करना अगम्य

है। हम जिस काल की बात करते हैं वह खंडित क्षण, मुहूर्त, महीने, ऋतुओं, संवत्सर आदि में विभक्त होता है।

अंकशास्त्र की कक्षा में हमने कभी पढ़ा था कि संख्या, रेखा और त्रिभुज की कोई भौतिक सत्ता नहीं होती हैं उनकी वैचारिक प्रतिपत्ति स्वीकार करके हम 'चार संतरे', 'सीधी रेखा में चले जाइये, अमुक गाँव मिल जायेगा' इत्यादि प्रयोग करते हैं। ठीक इसी तरह काल समस्त घटनाओं का नियंत्रक है, पर काल कोई खाली बर्तन नहीं है, जिसमे पानी उबलने की तरह घटनाएँ घटती है। काल को जानने के लिए क्रम-दर्शन को जानने की आवश्यकता है। क्रम वस्तुत: क्रिया शक्ति ही है, जैसे 'देखो, कोई दौड़ रहा है' और 'इसके बाद तुम्हारी बारी हैं' 'माँ, खाना पका रही है' 'तुम पटना से कलकत्ता कैसे आए' इत्यादि। हमारा वाक्-व्यवहार भी काल सापेक्ष है। किसी वाक्य के सभी शब्द एक साथ उच्चरित नहीं होते हैं, उनका उच्चारण क्रम से होता है। यह क्रम नेपथ्य में काल की सापेक्षता की अपेक्षा करता है। जिस तरह गतिमान पिंड, ग्रह, नक्षत्र हमें अंतरिक्ष की सत्ता का आभास देते हैं, वैसे ही चराचर जगत में जो कुछ परिवर्तन होता है, काल उसका साक्षी होता है। जैसे आंखें साक्षी होती है बाहरी घटनाओं की, पर आंखें स्वयं की साक्षी नहीं हो सकती, वैसे ही काल का भी साक्षी कोई नहीं है।

कहा जा सकता है कि काल का बोध मानवीय बोध के साथ ही जन्मा है, हम काल-दिक् के चश्मे पहन कर ही जन्मते हैं कर्ण के कवच-कुंडल की तरह, जिन्हें हम अपने से पृथक नहीं कर सकते हैं। काल को यद्यपि निरपेक्ष और अपरिवर्तनशील सत्ता कहा जाता है, किन्तु अपनी दो शक्तियों से काल सभी प्राणियों को धागे से बंधे हुए पक्षी की तरह रखता है। जब धागा ढीला छोड़ता है, तो पक्षी आकाश में उड़ने लगता है और जब धागा समेट लेता हैं तो पक्षी वापस आ जाता है। इस प्रकार काल को प्राणियों के जन्म, वृद्धि, क्षय और विनाश जैसे परिवर्तनों का कारण कहा जाता है। वसंत के मौसम में पेड़ों की अंकुरण शक्तियाँ भी काल की देन हैं, जब उनमें नये फूल और पत्ते आते हैं। पतझड़ में विनाशकारी शक्ति सक्रिय हो जाती है और पेड़-पौधे अपने पत्ते गिराकर सूख जाते हैं। काल एक है लेकिन कार्यों में अंतर के कारण इसे वसंत, शरद और ग्रीष्म आदि के रूप

में हम विभाजित कर देते हैं। जैसे एक ही व्यक्ति को कभी बढ़ई, कभी राजमिस्त्री और कभी लोहार आदि के रूप में पुकारते है, वैसे ही काल एक ही है, पर उसे हम विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

यदि काल थम जाय तो क्या होगा? संसार में गतिविधियों का कोई क्रम नहीं रहेगा। भर्तृहरि कहते हैं कि समय एक माप है, एक आयाम है जो गतिविधियों या क्रियाओं को अलग करता है। जिस प्रकार नैकट्य और दूरत्व का सम्बन्ध व्यक्ति और स्थान से होता है, जहाँ पर वह रहता है, जबकि स्थान में ऐसा कोई गुण नहीं होता है, जिससे हम दूरत्व या निकटत्व का एहसास कर सके, वह तो व्यक्ति की स्थान-उपस्थिति के ऊपर निर्भर करता है। इसी तरह द्रुत गति और बिलम्बित गति, भूत, वर्तमान और भविष्य सभी काल की उपाधियां है, जो हम काल पर आरोपित करते हैं।

सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा "वर्तमान काल" की है, जिसमें हम प्रति मुहूर्त रहते है, जो क्षणभंगुर है, जिसे हम वर्तमान के रूप में देखते हैं, वह हमारे पूर्ण रूप से समझने के पहले ही क्रमशः भूतकाल में मिल जाता है। वर्तमान में जो कुछ घटित हो रहा है, उस पर निरंतर हमारे भूत और भविष्य का आधिपत्य बना रहता है। क्षणभर में वर्तमान अतीत में चला जाता है और हम भविष्य की ओर झांकने लगते हैं। जैसे एक चलती गाडी से, जो वर्तमान है, बैठ कर देखे तो कुछ दृश्य पीछे छूटते जाते हैं, जो भूतकाल है, कुछ सामने आने वाले होते हैं, जो भविष्य है। पर वर्तमान तो ठहरता हुआ दिखाई नहीं देता है। कुछ दार्शनिक मानते हैं कि वर्तमान की सहायता से ही काल अनंत भूतकाल से अनंत भविष्य की ओर अग्रसर होता है।

मृत्यु तथा आकस्मिक रूप से आ धमकने वाली आपदाओं ने ही समय के प्रति हमारे मन में डर को भी जन्म दिया था, और हमने उसे मृत्यु, नियति आदि तक की संज्ञा दे डाली। अमरत्व की कल्पना करने का शायद यही आशय होगा। कुल मिलाकर काल एक पहेली के रूप में हमारे सामने आता है। मैत्रेय्युपनिषद में ऋषि दिक्-काल को एक ही साथ वर्णित करके उनसे मुक्त होने की घोषणा करता है—

कहाँ है वह बिन्दु, जिस पर मैं टिकूँ?

कहाँ वह रेखा, जिस पर मै चलूँ?
कहाँ वह क्षण, जिस पर मैं रुकूँ?
वह क्षण छूटा,जहाँ मै खड़ा था
वह परिचय कहाँ? वह धारा कहाँ?
शून्य कभी दर्शन था,
अब गणित हो गया है।

(अप्रैल २२, २०२४)

७

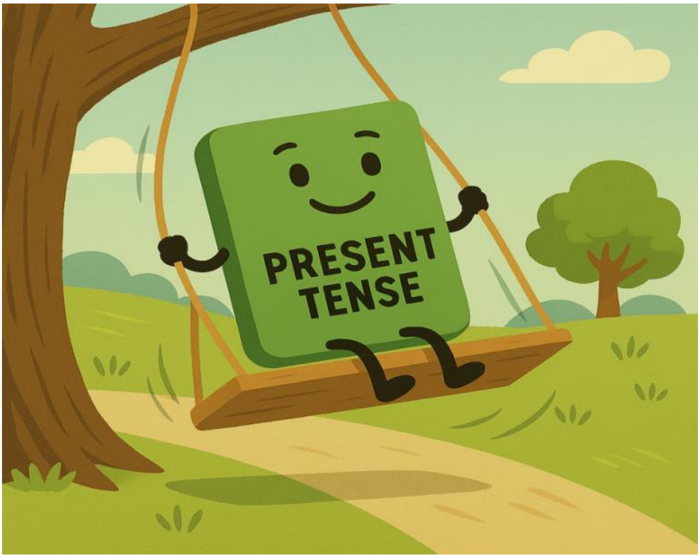

अस्त्यत्राप्यविच्छेदः। तद्यथा — काकोऽयं पक्षौ विक्षिपन् जङ्घे प्रसारी इत्युच्यते, न च तस्य तस्मिन् काले विक्षेपणं वा प्रसरणं वा अस्ति, आरम्भस्त्वसौ। स च प्रारब्धोऽपरिसमाप्त इति वर्तमानः कालः।

(पातंजल महाभाष्य)

(जब कोई पक्षी उड़ान भरने के लिए पंख फैलाना शुरू करता है, तो हम कहते हैं—कौआ पंख फैला रहा है, यद्यपि उस क्षण वह पूर्ण रूप से उड़ नहीं रहा होता। क्रिया स्थिर दिखती है । लेकिन लोक-व्यवहार में हम उसे 'वर्तमान काल' कहते हैं।)

झूले पर झूलता वर्तमान

भविष्य की चिंता मत करो, अतीत को भूल जाओ 'बीत गई सो बात गई' इत्यादि वाक्य आये दिन कानों में मधु मिश्री घोलते रहते हैं। बचता है वर्तमान उसमें जिओ, बस इसी क्षण में जिओ, अगले क्षण क्या होगा कोई नहीं जानता, भरपूर जिओ, उधार लेकर जिओ — यही है आज का मूलमन्त्र जिसका समर्थन प्रतिदिन घटती घटनाओं के द्वारा और बच्चों की नसीहतों से मिलता रहता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि काल की धारणा क्रिया के द्वारा ही निर्धारित होती है, एवं काल अनुमेय है। वर्तमान काल की उसमें अहम भूमिका होती है। यह वह बिंदु है जो भूत और भविष्य को जोड़ता है। पाणिनि ने अपने *अष्टाध्यायी* ग्रन्थ में वर्तमान की परिभाषा 'प्रारब्धपरिसमाप्तम्' से दी है, जिसका अर्थ हुआ– इप्सित कार्य की उत्पत्ति से लेकर अंत तक का समय 'वर्तमान' कहलाता है, लेकिन यह काल क्षणभंगुर होता है। हम जिसे वर्तमानकाल, अभी, 'अब' 'इसी वक्त' के रूप मे देखते हैं, वह हमारे समझने के पहले ही क्रमशः भूतकाल में चला जाता है, और भविष्य की ओर निहारता है। वर्तमान में जो कुछ घटित हो रहा है, उस पर निरंतर भूत और भविष्य की घुसपैठ बनी रहती है। 'पेड़ से पत्ता अलग होने के पूर्व की अवस्था और टूटने के बाद जमीन पर गिर जाने की अवस्था के बीच एक और अवस्था है जिसे हम 'गिर रहा है' (पतति) कहते हैं, वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है। जमीन से संयुक्त होना और डाल से वियुक्त होना हम देख सकते हैं, पर वियुक्त होने की क्रिया अगोचर रह जाती है। पतंजलि एक दृष्टान्त के द्वारा वर्तमान की सत्ता के निषेध के पक्ष में तर्क देते है—

'हे! कौवे, तुम न तो भविष्य में उड़कर जा सकते हो, न ही अतीत से आ सकते हो, यहाँ तक कि तुम वर्तमान में भी नहीं उड़ सकते हो, तुम तो बस एक बिंदु पर अटके बैठे हो। फिर भी यदि तुम्हें *अहंकार* है कि तुम उड़ते हो' तो हिमालय ने क्या दोष किया है जिसे हम स्थिर कहते हैं, वह भी उड़ता है'। केवल एक क्षण, जो स्थिर है उसे हम वर्तमान कहते हैं, लेकिन

वह क्षण भी तो स्थिर ही है। काल के प्रति क्षण में एक-एक विशेष स्थान पर कौवा गतिहीन ही बना रहता है। 'उड़ना' क्रिया किसी हालत में संपन्न नहीं हो सकती। अर्थात वर्तमान काल निवर्तमान हो जाता है, फलस्वरूप 'भूत' और 'भविष्यत्' काल का भी अस्तित्व समाप्त हो जाता। सिद्धान्ततः काल का कोई अस्तित्व नहीं रह जाता है।

नागार्जुन ने यूँ ही काल के पारमार्थिक अस्तित्व को नहीं नकारा है, वे उसे 'स्वभाव-शून्य' मानते हैं! अर्थात काल अतीत, वर्तमान और भविष्य से रहित है। तबले पर जब हाथों की थाप पड़ती है तो कभी द्रुत और कभी बिलम्बित गति से बोलों की उत्पत्ति होने लगती है। तबला और हाथ दोनों ही काल की उपाधियां मात्र है, बिना इनके काल लय के रूप में अपना खेल नहीं खेल सकता है। तात्पर्य है कि हमने अपनी व्यावहारिक उपयोगिता के लिए काल को एक काल्पनिक सत्ता मान कर मात्रा, गणना, मुहूर्त, घंटा, दिन-रात, महीना इत्यादि में विभाजित कर रखा है।

प्रश्न है कि तथाकथित निरपेक्ष काल यदि थम जाय तो क्या होगा? संसार गतिहीन, क्रियाहीन क्रमहीन हो जायेगा। इस गतिहीन जगत का न तो कोई भविष्य होगा, ना ही कोई अतीत। अब हमारे सामने दो ही विकल्प बचते हैं— या तो 'नित्य वर्तमान काल' की सत्ता होगी अथवा वर्तमान काल की सत्ता का संपूर्णतः निषेध हो जायेगा। पहला विकल्प क्रियाहीन 'नित्य वर्तमान' की अवस्था स्वीकार करने पर कोई भूत और भविष्य नहीं होगा। इस सम्भावना में कुछ दम नज़र आता है। चलती ट्रेन में जो स्थान पीछे छूटता जाता है, वह स्थान दिखाई नहीं देता है और इसी तरह जो आगे आने वाला है, वह भी दिखाई नहीं देता है। लेकिन यदि काफी ऊंचाई से देखा जाय तो सभी स्थान एक साथ दिखाई देने लगते है। आप कल्पना करें कि आप इतनी ऊंचाई पर खड़े हो जहाँ से सारी पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, अन्तरिक्ष सब कुछ देख पा रहे हैं, तो निश्चित ही आप नित्य वर्तमान काल में जी रहे हैं। किताब यदि एक ही पृष्ठ में सम्पूर्ण रूप से समाहित हो जाती तो क्रम से पन्ने उलटने का कोई मतलब नहीं रह जाता। पूरी किताब आप एक नज़र में देख पाते, पढ़ लेते, क्योंकि किताब में पन्नों की क्रमहीनता है। मानो एक ही थाली में तथाकथित भूत और भविष्य एक साथ परोस दिए गए हैं। कोई

काल विभाजन का अवसर ही नहीं है। लेकिन ऐसा होना मानवीय क्षमता की सीमितताओं के कारण संभव नहीं हो सकता है। यह एक का चिंतन-प्रयोग मात्र है।

दूसरा विकल्प यानी वर्तमान का सम्पूर्ण निषेध करना ही मेरा मूल उद्देश्य रह गया है। गहरी नींद में अथवा दीर्घ अचेतन की अवस्था में वर्तमान का अस्तित्व नहीं रह जाता है। नींद से उठने के बाद घड़ी, कैलेण्डर, अखबार देखने से पता चलता कि कितना समय बीत गया, आज कौन सा दिन है, आज क्या तारीख है इत्यादि। समाधि अवस्था में पहुँचे हुए लोगों के लिए, कल्प-विज्ञान के लेखकों के लिए काल में विचरण करना सहज हो जाता है, वे अतीत और भविष्य में समान रूप से घूम सकते हैं। इस तरह कहा जा सकता है काल का आधार मनुष्य है, मनुष्य का आधार काल नहीं है।

इन्हीं चुनौतियों से प्रेरित होकर आइंस्टाईन ने सापेक्षता के सिद्धांत से समय को चौथा आयाम दिया और हमें एक नई जगत-दृष्टि दी। मान लिया जाय कि किसी व्यक्ति पर खून के इल्जाम पर कोर्ट में केस चलता है, पर बचाव पक्ष का वकील सिर्फ इतना प्रमाण कर दे कि वह खून की घटना के समय किसी अन्य स्थान पर था, बस! वह निर्दोष साबित हो जायेगा। क्या इसी तरह तकनीकी कौशल से हम दिन में रात और रात में दिन होने का एहसास करा सकते हैं? कितनी ही कोशिशों के बावजूद किसी वस्तु की 'निरपेक्ष' गति (absolute speed) तथा 'निरपेक्ष' गति का बढ़ना-घटना (absolute acceleration) प्रमाणित नहीं किया जा सका है। किसी न किसी वस्तु को लक्ष्य बना कर ही ऐसा संभव हो सकता है। उदाहरण के लिए 'राम अपने मित्र श्याम से तेज दौड़ता है' — यहाँ 'राम' का तेज दौड़ना 'श्याम' पर निर्भर करता है। बिना किसी सापेक्ष सत्ता के 'निरपेक्ष तेज दौड़ने' का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। जैसे ही कोई कहता है, 'राम तेज दौड़ता है' तो प्रश्न उठता है – किससे? काल की निरपेक्षता को नकारने की एक ही मान्यता है कि गतिमान वस्तुएँ एक-दूसरे के सापेक्ष होती है। काल की निरपेक्ष सत्ता जानना संभव नहीं हो सकता है। जिसे हम दूरत्व या निकटत्व कहते वह किसी वस्तु विशेष के सन्दर्भ में कही जाती है, अन्यथा दूर और निकट कहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है।

काल को समझने के दो ही उपाय है, पहला, काल एक अनंत निरपेक्ष इकाई रूप में तथा (पिछले परिच्छेद में देख चुके हैं) दूसरा, काल को अणु-खण्डों में बाँट कर। अणु-खण्डों में बाँटने से क्रिया असंभव हो जायेगी, क्योंकि ये टुकड़े परस्पर विच्छिन्न होकर तैरते रहेंगे, इनका तालमेल कैसे बैठेगा, इनका एकत्रीकरण कैसे होगा? इस तरह काल असत हो जायेगा। क्रिया हमें यह विश्वास करने के लिए बाध्य करती है कि काल निरंतर है और अपरिवर्तित है। अरस्तू ठीक इसी स्वर में स्वर मिला कर कहते है कि काल का कोई अस्तित्व नहीं है, क्योकि अतीत तो कहीं टिक नहीं सकता, उसकी सत्ता क्यों माने और भविष्य तो आया ही नहीं है, वह भी काल का अंश नहीं हो सकता है। ले दे कर बचता है वर्तमान जो छुरी की धार की तरह है जिसमें कोई मोटाई नहीं है। (मुझे अप्रासंगिक रूप से याद आ रहा उपनिषद की वाणी, 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गम पथः...',)। वर्तमान तो सिर्फ भूत और भविष्य से सापेक्ष होकर रह सकता हैं, पर जब भूत और भविष्य ही नहीं है तो वर्तमान की क्या हैसियत है रहने की? अतः वर्तमान का भी कोई अस्तित्व नहीं है।

आइंस्टाईन, अपने मित्र बेस्सो की विधवा को यह कह कर सांत्वना देते है कि——

'बेस्सो एक अर्थ में यहीं है क्योंकि अतीत, वर्तमान और भविष्य एक ही धरातल पर है। 'बेस्सो चला गया'— यह नहीं कह सकते है, क्योंकि उसका अतीत भी उसी धरातल पर है जिस पर वर्तमान है, भविष्य भी इसी धरातल पर है, यानी तीनों का सहवस्थान है। जिसको हम कहते है 'घटना घट रही है' वह वास्तव में इसी वस्तु जगत में है, वह यही है, घट नहीं रही है', वह सिर्फ है।

(अप्रैल २२, २०२४)

८

(आजकल पूरे विश्व में ‘उत्तर-सत्य काल’ या ‘Post-truth Era’ का बोलबाला है। ऐसे में उपलब्ध तथ्यों की पड़ताल करके सत्य की पहचान करना एक दुरूह कार्य हो गया है। यह और भी मुश्किल हो जाता है जब राजनीति और व्यवस्था में उच्च स्थानों पर विराजमान लोग भी सच और झूठ (सफेद और काले) के बीच वाले धुंधलाए हुए स्थानों या ‘ग्रे एरियाज़’ में विचरण कर रहे होते हैं। ‘सत्य और तथ्य’ के बारे में क्या दार्शनिक परिप्रेक्ष्य है, सत्य की खोज में संलग्न हमारे पाठकों के लिए यह विषय उपयोगी हो सकता है।)

द्विमुखी सत्य की संकलपना

"....मै जो कुछ कहूँगा सच कहूँगा, सच के अलावा कुछ नहीं" - एक साक्षी जब कोर्ट में यह दावा करता है, और बाद में पता चलता है उसने जो कुछ कहा था वह झूठ था, झूठ के अलावा कुछ नहीं, तो हम यह जानने के लिए उत्सुक हो उठते हैं कि सत्य क्या है? दर्शन में विशुद्ध सत्य संभवतः *तथ्य* और *तर्क* की कसौटी पर कसा जाता है, लेकिन फिर तत्काल प्रश्न उठता है कि 'तर्क' क्या है, 'तथ्य' क्या हैं? विषय के अनुरूप होने पर ज्ञान को यथार्थ कहा जाता है, और विपरीत होने पर अयथार्थ। सीधी सी बात है 'मेज़ पर चार पुस्तकें हैं' कहने के बाद श्रोता यदि वहां जाकर देखें की चार पुस्तकें हैं, तो यह वाक्य सत्य माना जाता है। बुद्ध को 'तथागत' इसीलिए कहा जाता है, क्योंकि वे वस्तुओं को वैसा ही देखते हैं जैसी कि वे है'। इस अर्थ में *तथ्य* और *सत्य* में कोई खास भेद नहीं होता है। इस तरह तथ्य और सत्य बिल्कुल समानार्थी हो जाते है। उदाहरण के लिए "कहानी का कितना भाग तथ्यात्मक (सत्य) है और कितना काल्पनिक"— यह कथन सत्य और तथ्य को एक स्तर पर ला खड़ा कर देता है।

कभी कभी तथ्य को सत्यापित करने की जरूरत पड़ती है अर्थात उसे प्रमाण की आवश्यकता होती है, तब उसे सत्य कहा जाता है। तथ्य होने के लिए वैध होना आवश्यक होता है। जब एक वकील कहता है, 'पहले आपको मामले के सभी *तथ्य* एकत्र करने होंगे, तभी मै जाँच आगे बढ़ाऊँगा'। इसका अर्थ है कि तथ्यों के आधार पर केस की सच्चाई परखी जाएगी, और तभी इसे सत्य माना जाएगा। इसी कारण जब अदालत किसी व्यक्ति को दोषी ठहराती है, तो फैसला सुनाते समय न्यायाधीश कहता है, 'प्रतिवादी को सबूतों के आधार पर दोषी करार किया जाता हैं' न कि प्रतिवादी दोषी है। तथ्य यहाँ सबूत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, पर उसकी भी सत्यता की जांच की जाती है।

कभी कभी तथ्य का कार्य सिर्फ सूचनाएँ बटोरना होता है, सत्य-असत्य का निर्णय उन तथ्यों की गुणवत्ता के आधार पर होता है। दृष्टान्त स्वरूप कुछ

वर्ष पहले यह तथ्य था कि 'सौर मंडल में ग्रहों की संख्या नौ है' पर अब यह तथ्य सत्य नहीं रहा, क्योंकि प्लूटो अब ग्रह नहीं रहा। 'यह प्राणी घोड़ा है', ऐसा कहने वालो के प्रति मै दावा नहीं कर सकता कि 'यह गाय है', क्योंकि यह सार्वजनिक तौर पर निश्चित किया गया है कि इस प्राणी को घोड़ा कहा जायेगा। दूसरी ओर ब्राह्मण और बकरे की कथा भी आप सबने सुनी ही होगी जो रास्ते में मिले ठगों के बार बार कहने पर कि उसके कंधे पर कुत्ता है, स्वयं के विवेक पर विश्वास खो बैठता है और वह बकरे को कुत्ता समझ, उसे वहीँ छोड़ कर भाग जाता है। अतः विश्वास ज्ञान का पहला सोपान अथवा ज्ञान की पहली शर्त है।

तकनीकी अर्थ में, तथ्य 'कहाँ' 'कब' और 'कैसे' का उल्लेख करता है, जबकि सत्य 'क्यों' प्रश्न का उत्तर देता है। उदाहरण के लिए, जब यह कहा जाता हैं कि सूर्य हमेशा पूर्व से उदित होगा और पश्चिम में डूबेगा, तो यह एक तथ्य हैं, लेकिन जब इस घटना का कारण खोजते है, तो पृथिवी की गति आदि की वैज्ञानिक व्याख्या देनी पड़ती है। पर इससे दैनन्दिन जीवन में यह कहना कि 'सूरज पूर्व से उठता है, पश्चिम में डूबता है' बंद नहीं हो जाता है।

तथ्य का एक रोचक उदाहरण इस प्रकार दिया जाता है कि एक बार यदि किसी को दोपहर साढ़े बारह बजे कुछ अपशब्द कहे तो अब इस तथ्य को बदला नहीं जा सकता है, भले ही अपशब्द कहने वाले व्यक्ति ने माफ़ी भी मांग ली हो, लेकिन 'अपशब्द कहने की जानकारी का एक टुकड़ा जो साढ़े बारह बजे दिया गया' वह मिटाया नहीं जा सकता। इस तरह 'तथ्य' शब्द की कई विरोधी परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। पहली, तथ्य एक ऐसा कथन है जो निर्विवाद रूप से सत्य होना चाहिए। दूसरी, तथ्य अप्रमाणित होने पर झूठ, संदिग्ध या विवादित भी हो सकता है। तीसरी, यह भी विचारणीय है कि 'मुंह से निकले हुए वाक्य की तरह तथ्य बदले नहीं जा सकते हैं। काल के उस विशेष खंड में 'झूठ' भी अंकित हो जाता है।

बीसवीं शताब्दी के सबसे महत्वपूर्ण दार्शनिक लुडविग विट्गेन्स्टाइन (Ludwig Wittgenstein) कहते है कि 'the world is the totality of facts, and not of things' विश्व वस्तुओं का समूह न होकर तथ्यों का समूह

है। अर्थात मान लीजिये आपके कमरे में बीस वस्तुएं है टीवी, फ्रिज, खाट, आलमारी आदि। प्रत्येक दिन आप इनका स्थान परिवर्तन करके नए तरह से कमरे को सजाते हैं और उससे इन वस्तुओं के बीच भी नए अंतरसंबंध बनते हैं। प्रतिदिन उन्हीं बीस वस्तुओं से आप कमरे को तथ्यात्मक रूप से बदलते रहते हैं। इसी तरह दुनिया में जितनी भी तथाकथित वस्तुएँ हैं, उनकी संरचनायें भी प्रतिक्षण बदलती रहती हैं। इस तरह तथ्य का अर्थ है एक विशेष प्रकार की संगति जो तमाम वस्तुओं के अन्दर परस्पर देखी जाती है, जिसे एक सार्थक वचन के माध्यम से प्रतिबिंबित किया जाता है। दृष्टान्त स्वरूप 'काली बिल्ली चटाई पर बैठी है'। इस वाक्य में काली बिल्ली, चटाई और उनका सम्बन्ध उपादान है। इनकी स्थिति बदल कर यदि कहा जाए 'चटाई पर बिल्ली है' तो उपादान वही है पर तथ्य एक नहीं है। दोनों वाक्यों का प्रतिनिधित्व एक जैसा नहीं होता है। तथ्य सिर्फ इतना कहता है 'अमुक घटना ऐसी है' पर अपना कोई निर्णय नहीं देता है। जबकि सत्य उस पर बाकायदा निर्णय देता है कि 'अमुक तथ्य सत्य है'। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति किसी का पुत्र, किसी का पिता और भाई, शिक्षक हो सकता है, किन्तु उसका पुत्र यदि उसे सबका पिता मान कर अन्य रिश्तों का निषेध करने लगे तो वह बेवकूफ कहलायेगा। जैन दार्शनिकों का 'अनेकान्तता का सिद्धांत' इस बात की पुष्टि करता है कि हमारे देखने का रवैया एकांगी होता है, इसलिए अनेकों समस्याओं के सम्मुखीन होना पड़ता है। जबकि बहुमुखीनता हमारी सोच को विस्तार देती है।

गौतम बुद्ध के अनुसार ज्ञान की सभी वस्तुऐं संपूर्ण रूप से दो सत्यों में बंटी होती हैं— संवृत्ति-सत्य (व्यावहारिक सत्य) और पारमार्थिक-सत्य। संवृति-सत्य वह है जो उत्पन्न होता है और नष्ट हो जाता है। जैसे "घड़े" का अस्तित्व कुम्भकार के चाक पर निर्मित होता है और फिर जब वह टूट जाता है तो उसका अस्तित्व भी नष्ट हो जाता है। घड़े की रचना जिस अणु-समान सूक्ष्म इकाई से उत्पन्न होती है, नष्ट होकर उसी मूल सत्ता में विलीन हो जाती हैं। तो यह सत्य समय-समय पर बदल सकता है। दूसरी ओर मूल सत्ता को पारमार्थिक सत् कहते हैं, जो अपरिवर्तनीय, नित्य कही जाती है, जो हमेशा

बनी रहती है। किन्तु हम उन्हें प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं पर हम उनका अनुमान कर सकते हैं।

दो सत्यों का सिद्धांत इस दावे को प्रतिपादित करता है कि व्यावहारिक रूप से जो बाह्य जगत हम देखते हैं वह सिर्फ हमारे विचारों और कल्पना की रचना है, जो एक सपना, एक मृगतृष्णा, एक जादुई भ्रम से अधिक कुछ नहीं होता है। पारमार्थिक सत्य को आचार्य नागार्जुन शून्य तक कह देते हैं, यद्यपि इस शून्यता के ज्ञान को किसी तर्क के द्वारा न समझा जाता है न ही समझाया जा सकता है। हम इसे एक उदाहरण से समझ सकते हैं –'रथ' एक शब्द है जो रथ एक विषय की ओर संकेत करता है। लेकिन रथ का पहिया सिर्फ रथ नहीं कहा जाता है, उसका छत्र भी रथ नहीं कहा जाता है, घोड़े भी रथ नहीं कहे जाते हैं, उसमे बैठने का स्थान भी रथ नहीं होता है, तो फिर रथ कहाँ है? इनका समूह भी रथ नहीं कहा जा सकता है। यह फेविकोल का जोड़ नहीं है। रथ एक शून्य है और वही उसकी वास्तविकता है। यद्यपि सत्य सम्बन्धी यह व्याख्या बौद्ध दर्शन को आधार मान कर की गयी है, पर कमोबेश सभी भारतीय दार्शनिक इस द्विमुखी सिद्धांत को ग्रहण करने के लिए बाध्य है।

विशुद्ध सत्य की आलोचना से जुड़ा एक महत्त्वपूर्ण सवाल जो अक्सर उठाया जाता है कि इसका सम्बन्ध मानवीय स्तर पर खोखला साबित होता है। वैज्ञानिक गवेषणा की दृष्टि से देखे तो एटम बम का अविष्कार एक सत्य की ही खोज थी, पर हिरोशिमा और नागासाकी में उसका विस्फोट नैतिकता की दृष्टि से मानवीय मूल्यों का अधःपतन ही कहा जायेगा। विशुद्ध सत्य और मानवीय दुर्बलताएँ हमारे सत्य की सीमा का निर्धारण कर देती है। लोकव्यवहार में 'मुंह में राम बगल में छुरी' मुहावरा कोई अच्छा सन्देश नहीं देता है, पर शास्त्र चिकने चुपड़े कलेवर में यही परोसता है कि हम द्विमुखी ही होते हैं। मै इस पहलू को कमतर दृष्टि से नहीं देखती हूँ, बल्कि मानवीय नियति की इस सच्चाई को स्वीकार करती हूँ।

(अप्रैल २९, २०२४)

९

(पिछली बार हमने 'सत्य और तथ्य' का दार्शनिक परिप्रेक्ष्य समझा था। इस बार बात सत्य और तथ्य से आगे निकल गई है। इस बार का दार्शनिक सिद्धांत ये है कि जो सत्य दिख रहा है, वास्तव में वो भी सत्य नहीं है और जो मिथ्या है सो तो मिथ्या है ही! अभी भूमिका में आपको कुछ गड़बड़-झाला लग रहा है तो चिंता ना करें, लेख पढ़ने से मामला समझ आ जाएगा। हमें तो अज्ञेय के काव्य-संग्रह *कितनी नावों में कितनी बार* में से कुछ पंक्तियाँ याद आ गईं और लगा कि शायद उन्होंने भी दर्शनशास्त्र के इस विषय को गहराई से पढ़ा होगा। यह पंक्तियाँ थीं – "यह एक और घर पीछे छूट गया, एक और भ्रम जो जब तक था, मीठा था टूट गया। यों घर—जो पीछे छूटा था— वह दूर पार फिर बनता है; यों भ्रम—यों सपना—यों चित्-सत्य, लीक-लीक पथ के डोरों से नया जाल फिर तनता है...।" आशा करते हैं कि सत्य की खोज में संलग्न हमारे पाठकों के लिए शृंखला का यह लेख भी उपयोगी होगा।)

जागें जथा सपन भ्रम जाई

एक उपाख्यान से अपनी बात शुरू करूँगी, "महाराज जनक ने स्वप्न देखा, वे एक भिखारी के वेश में भोजन के लिए भटक रहे है। भोजन मिलने पर जैसे ही उन्होंने टुकड़ा उठाया कि एक सांड ने उसे रौंद दिया। भूख से उनके प्राण निकलने लगे। नींद टूटने पर उन्होंने खुद को अपने महल में पाया। वे अब स्वप्न वाले भिखारी नहीं थे। वे स्वयं से बार-बार प्रश्न पूछ रहे थे कि सत्य क्या है— भिखारी जनक या राजा जनक? ऋषि अष्टावक्र के आने पर जनक ने यही प्रश्न उनके सामने भी दोहराया। अष्टावक्र ने दो टूक जवाब दिया,'राजन्! न यह सत्य है, न वह सत्य था। जिस तरह जागने पर स्वप्न काल का भिखारी गायब हो गया, उसी प्रकार तत्वज्ञान होने पर यह राजा भी मिथ्या हो जायेगा'।

हमारी बोलचाल की भाषा में 'मिथ्या' शब्द अयथार्थ ज्ञान, विपरीत, गलत, झूठ, पाखंड, दिखावटी आचरण विभिन्न अर्थों में व्यवहृत होता है, जिसका अर्थ होता है जो जहाँ नहीं है, वहां उसका अनुभव करना, जो जैसा नहीं है, उसका वैसा होना। जैसे 'रस्सी' को सांप समझना, सीपी को चांदी समझना इत्यादि। अयथार्थ ज्ञान मूलतः तीन प्रकार के कहे जाते है - संशय, विपर्यय और तर्क। किसी एक धर्म से विशिष्ट पदार्थ में जब दो विरुद्ध धर्मों का आरोप एक साथ होता है, तब वह संशय कहलाता है। जैसे सामने खड़ी हुई वस्तु ठूँठ है या पुरुष? रस्सी में सांप का ज्ञान विपर्यय ज्ञान कहा जाता है। तर्क ज्ञान सत्य न होने पर भी सत्य ज्ञान का सहायक माना जाता है।

लेकिन मिथ्या ज्ञान उपरोक्त तीनों से पृथक है। आचार्य शंकर मिथ्या ज्ञान को एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग करते है, जिसमें 'अस्तित्व का पूर्ण निषेध' और 'अनस्तित्व का पूर्ण निषेध' समान रूप से किया जाता है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति रस्सी देखकर सोचता है कि यह सांप है। बाद में उसे पता चलता है कि यह तो एक रस्सी है। 'यहाँ कभी साँप था ही नहीं', तो साँप मिथ्या हो जाता है। लेकिन उसे जो सांप का अनुभव हुआ था, डर कर भागा था और चिल्लाया था, उसे झूठा नहीं कहा जा सकता है। पर इस अनुभव

को वास्तविक भी तो नहीं कह सकते है। वह क्या है जो हमारे बोध का विषय बना था। इसी तरह एक भिन्न प्रकार का भी उदाहरण देकर मिथ्यात्व को स्पष्ट किया जा सकता है। यूँ तो कपड़े का अस्तित्व धागों में स्वीकृत है, किन्तु धागा ही वस्त्र नहीं कहा जा सकता हैं, क्योंकि धागों की बुनाबट को वस्त्र कहा जाता है. धागों में वस्त्र है भी और नहीं भी है, अतएव वस्त्र मिथ्या है। इस तरह **मिथ्याज्ञान** अनुभव की वस्तु भी है, तथा अनुभव का निषेध भी है।

आचार्य शंकर ने संसार को मिथ्या कहा है, पर आकाश कुसुम की तरह अलीक नहीं कहा है, क्योंकि हम सभी इसे स्पष्ट रूप से देखते और अनुभव करते हैं। मिथ्या का अर्थ है "सत्यानृते मिथुनीकृत्य" अर्थात सत्य और असत्य दोनों का मिथुनीकरण, जिससे हमारा लोक व्यवहार चलता है! केवल सत्य या केवल असत्य के सहारे इस संसार में नहीं चला जा सकता! दोनों के सम्मिश्रण को मिथ्या नाम दिया गया है, जो है भी और नहीं भी है, अर्थात एक विलक्षण अनुभूति। यह स्थिति पूर्ण सत्य और ख़रगोश के सींग की तरह पूर्ण असत्य के बीच का पथ है। रस्सी में साँप जरूर दिखाई देता है, पर रस्सी में सांप है ही नहीं। जो सांप मैंने देखा वह बाद में बाधित भी हो गया। इसी सत्य और असत्य के तनाव के कारण मिथ्या को अनिर्वचनीय (वर्णनातीत) कहा जाता है. जैसे अंगूठी इत्यादि आभूषणों में सुवर्ण, मिट्टी के बने बर्तनों में मिट्टी तथा लोहे की बनी वस्तुओं में लोहे की उपस्थिति सत्य है, उसी प्रकार अनित्य और क्षणभंगुर जगत के पीछे विशुद्ध चेतना ही पारमार्थिक सत्य है।

सपनों की दुनिया, सपने देखने वालों के लिए वास्तव है, सपने देखने वाले की प्यास सपने में बुझ जाती है। जागने वाली दुनिया जागने वालों के लिए वास्तव है। दोनों ही दुनिया 'अपेक्षाकृत वास्तविक' हैं लेकिन कोई भी 'पूरी तरह से वास्तविक' नहीं है, क्योंकि स्वप्न भंग होने के बाद स्वप्न की दुनिया ख़ारिज हो जाती। जिसे हम तथा-कथित 'जागने वालों की दुनिया' कहते हैं वह भी ख़ारिज हो जाती, जब हम एक सोपान ऊपर उठते हैं।

अभिनवगुप्त के अनुसार 'चित्रतुरग न्याय' से चित्र में प्रदर्शित अश्व की प्रतीति एक तरफ सत्य होती है, दूसरी तरफ असत्य भी होती है, क्योंकि

बच्चा चित्र देख कर ही सीखता है कि 'इस पशु का नाम अश्व है'। वह यह भी समझता है कि यह अश्व वास्तव नहीं है। 'चित्रतुरग' की प्रतीति न सत्य होती है, ना असत्य, अंतत इसे एक विलक्षण अनुभूति कहा जा सकता है। उनके अनुसार जब कोई पात्र राम का अभिनय करता है, तो प्रेक्षक जानते हैं कि यह वास्तव में राम नहीं है, इसके बावजूद प्रेक्षक उसे राम समझ कर उसकी भावनाओं से द्रवीभूत होकर उसमे देवत्व का आरोप करते हैं। यह अनुभव भी अनिर्वचनीय या वर्णनातीत ही होता है।

इस मिथ्या ज्ञान का एक विकल्प है, जहाँ मिथ्या ज्ञान को भी सत्य माना जाता है। मात्र विशुद्ध सत्य को लेकर इस संसार-सागर को पार करना दुर्लभ कार्य है। जैसे कोई यदि यह सोचे कि वह विशुद्ध स्वर्णाभूषण ही पहनेगा तो यह असंभव कार्य होगा। स्वर्ण में अन्य धातु की मिलावट किये बिना गहने नहीं गढ़े जा सकते हैं, उसी तरह बिना सत्य-असत्य का सम्मिश्रण किये लोक व्यवहार भी नहीं चल सकता है।

इसके विपरीत प्रत्यभिज्ञा दर्शन (शैव दर्शन) न तो किसी वस्तु को मिथ्या मानता है और न ही क्षणिक। इसकी दृष्टि में सत्ता ही वस्तु की नियामक है। अर्थात यदि वस्तु है तो उसकी सत्ता अवश्य होगी और यदि उसकी सत्ता नहीं है, तो वह वस्तु ही नहीं है। जिस तरह लोक जगत में कोई चित्रकार कैनवास पर तूलिका और रंग की सहायता से चित्र बनाता है, उसी तरह इस जगत् का चित्रकार भी स्वयं ही कैनवास तूलिका, रंग इत्यादि बन कर जगत का निर्माण करता है, दोनों की ही सत्ता है। लौकिक कलाकार अलौकिक कलाकार का प्रतिबिम्ब स्वरूप है। इनका मानना है कि परम तत्व वह प्रकाश है, जिसे अपने प्रकाश का विमर्श भी होता है। यानी उसे अपने चित् का 'विमर्श' "मैं हूँ" ऐसा आत्मज्ञान होता है। वैसे यदि देखा जाय तो मणि भी स्वयंप्रकाश होती है, किंतु उसे अपने प्रकाश का ज्ञान नही होता है।

इस तरह क्रमशः जितनी ज्यादा सूक्ष्म बुद्धि बढती है उतनी ज्यादा अनिश्चयता बढती है। बुद्धि जितना देखती है, उतना ही अनुभव करती है कि उससे अधिक कुछ दिखाई नहीं देता है। प्रश्न है कि यदि सब सो रहे हैं, तो यह कहने के लिए अथवा देखने वाले को तो जगा हुआ होना चाहिए न?

सब मिथ्या है, यह कह पाने के लिए कहीं-न-कहीं तो सत्य देखने वाला होना चाहिए न? इसी से जुड़े सन्दर्भ में फ्रेंच दार्शनिक René Descartes का कथन भी विचार करने के योग्य है कि "दुनिया की सभी वस्तुओं को हम संदेह की दृष्टि से देख सकते हैं, पर यह जो देखने वाला है (स्वयं) उस पर कैसे संदेह कर सकते हैं"?

जितनी गहराई से हम जानने लगते हैं कि अँधेरा घना हो रहा है उतना ही यह स्पष्ट होता जाता है कि हम प्रकाश के नजदीक पहुँच रहे हैं। अगर इतना भी हम देखने लग जाए तो इसका अर्थ है कि हमने अनिर्वचनीय (वर्णनातीत) को महसूस करना सीख लिया।

(मई १०, २०२४)

१०

(आज के लेख में उत्तर आधुनिकतावाद में गहन रूप से व्याप्त युग्म (Binary) की धारणा को हमारे लिए आसान बनाया गया है। स्वयं डॉ कपूर ने अपने इस लेख का जो परिचय भेजा है, वह कुछ इस प्रकार है : "दो पक्षों की लड़ाई में तीसरा जो बचाव करने आता है उससे कहा जाता है कि 'या तो तुम मेरे साथ रहो या मेरे विरुद्ध रहो किसी एक को चुनो' ! एक झूठा द्वंद्व उसके सामने उपस्थित होता है। हम भूल जाते हैं कि तीसरा पक्ष बहुत आवश्यक होता है जिसमें दोनों पक्षों का सम्मिश्रण करके कुछ मध्यम पंथ की बात की जा सके, जो मेरी भी न हो, तेरी भी न हो" । ऐसा संवेदनशील मध्यम पंथ—जो न तो पूर्णतः सत्य हो, न ही पूर्णतः मिथ्या)

अनसुलझा समीकरण

टीवी खोले, आमने सामने दो पक्ष बैठे मिलेंगे और तर्क-बाणों के द्वारा एक दूसरे को बींधते दिखेंगे, घर में पिता-पुत्र, माता-पुत्री, शिक्षक-छात्र, पति-पत्नी, दंगल में दो पहलवान, शास्त्रीय संगीत में गायक और वादक तबला-वादक से भिड़ते हुए दिखाई देंगे। किसी भी क्षेत्र में देखें, 'दो-का-मामला' जम जाता है। एक तो अकेला बिसूरता रहेगा या शांत, स्थिर होकर काम में मग्न रहेगा, या फिर गोबर-गणेश की तरह बैठा मिलेगा, या फिर किसी साजिश में व्यस्त होगा। दो का मामला गंभीर होता है। उत्तर आधुनिक काल का केंद्रबिंदु 'दो' यानी binary अथवा युग्म की धारणा है। यह पद्धति बुलियन अलजेब्रा पर आधारित है, जहाँ हर निर्णय या स्थिति को दो मूल्यों में बाँटा जाता है: शून्य और एक अथवा सत्य और मिथ्या। सत्य जिसका प्राथमिक प्रयोग कम्प्यूटर प्रोग्रामिंग और data storage को ठीक रखने के लिए किया जाता है। इस पद्धति का उपयोग उत्तर आधुनिक काल में कई अन्य तरीकों से जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में किया जाता है। उत्तर आधुनिकतावादियों का तर्क है कि हमारे अन्दर जो छिपा हुआ 'दूसरा' है उसे निकाल कर आमने-सामने खड़ा कर देना चाहिए, जो हम से पृथक होकर भी हमें जगाये रखता है। जैसे लोकतंत्र में विपक्ष का रहना बहुत आवश्यक होता है, वैसे ही हमारे अन्दर इस 'दूसरे' की पहचान बहुत अनिवार्य होती है। यह एक 'जुड़वां सत्ता' है, जो अलग होकर भी एक साथ चलती है।

साहित्य और कला में युग्म का प्रयोग कथानक या कला को आगे बढ़ने में मदद करता है। किसी पात्र के कथन के उत्तर में यदि कोई जवाब न मिले तो कथानक आगे नहीं बढ़ सकता है। लोकव्यवहार में हम अक्सर इसका प्रयोग करते हैं — "आप कुछ बोलें तो बात कुछ आगे बढे"। इस दृष्टि से उत्तर-आधुनिकतावाद हाशिए पर पड़े हुए लोगों की आवाज़ को बुलंद करने के लिए उन्हें केन्द्र में लाकर खड़ा कर देता है, जिससे एक प्रकार का वैमनस्य भी आरम्भ हो जाता है। साधारणतः जिसे हम उच्च कला और निम्न

कला, समाज के दलित वर्ग और तथाकथित उच्च वर्ग, लोक संस्कृति और शास्त्रीय संगीत की संज्ञा देते हैं, उसके भेदभाव को भी उत्तर आधुनिक काल मिटाने का दावा करता है।

यूँ तो हम किसी भी मुद्दे को काले और सफेद, सही और गलत के घेरे में रख कर देखने के आदी होते हैं, पर यदि थोड़ा ठहर कर विचार करें तो हम पाएंगे कि किसी भी घटना या शब्द में निहित अनंत संभावनाओं को कुरेदने का सामर्थ्य भी यहाँ होता है। प्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक देरिदा (Jacques Derrida) के अनुसार यह एक सतत शक्ति के समीकरण की प्रक्रिया है, जो विपरीत के द्वारा प्रभावित होते हुए एक नए अर्थ का संधान करती है। एक BMW गाड़ी की तुलना में, एक रिक्शा क्यों नहीं ज्यादा प्रभावशाली हो सकता है? एक विख्यात अभिनेत्री की तुलना में हमारे घरों में काम करने वाली बाई क्यों नहीं जादू की पुड़िया हो सकती है? तिजोरी में पड़े करोड़ों रुपयों की तुलना में, जेब में पड़ा दस रूपया क्यों नहीं मूल्यवान हो सकता है? किसी प्रभावशाली रेस्ट्रोरेन्ट की तुलना में ताज़ा स्ट्रीट फ़ूड क्यों नहीं बेहतर माना जा सकता है? अर्थात ये परस्पर सापेक्ष है, जिनके स्तरों में कोई भेद नहीं है, और जो एक दूसरे को प्रभावित करते हुए आगे बढ़ते हैं। निगाहों को बदलने की आवश्यकता है, इसलिए उत्तरकाल में वैकल्पिक सत्यों की भरमार है, ऐसा लगता है कि हम सत्य की प्रयोगशाला में बैठे हैं।

पर यही युग्म जब विरोध या द्वंद्व का रूप ले लेता है, यथा— स्व-सत्ता और पर-सत्ता के बीच जो घटता है, वह नासूर भी बन जाता है। इसे आप "मैं' और "तुम" के बीच द्वंद्व के रूप में भी देख सकते हैं। वास्तविक जीवन में युग्म यानी अच्छा-बुरा, प्रकाश और अँधेरा, स्त्री-पुरुष, गाँव और शहर इत्यादि के बीच विरोध ही दिखाई देता है, जिससे सामाजिक समस्याएं और संघर्ष बढ़ते जाते हैं। मैंने पहले ही कहा कि युग्म और द्वंद्व समानार्थक नहीं हैं। युग्म का सार्थक उपयोग संभावित खतरों से बचाव के लिए किया जाता है, किन्तु आजकल 'युग्म' शब्द द्वंद्व के अर्थ में मुठभेड़ का एहसास कराता है।

उत्तर आधुनिकतावादियों का विचार है कि 'मैं जो देखता और समझता हूं, वह आपके देखने और समझने से भिन्न है'। वे एक नई अस्मिता की तलाश

में पारम्परिक प्रथाओं और तत्वों को अस्वीकार करते हैं। वे दुनिया को एक नई समझ के साथ जोड़ना चाहते हैं। सामान्यतः मनुष्य परम्पराओं में बंधकर, लकीर के फ़क़ीर की तरह चलते चलते भीड़ में खो जाते हैं। लेकिन जब कभी उनकी अस्मिता को चुनौती मिलती है, तो वह कुछ नया करने के चक्कर में वस्तुनिष्ठ और निरपेक्ष सत्य की अवहेलना करके नए सत्य की खोज में निकल पड़ते हैं, जो सिर्फ उनका ही हो, कहीं से उधार लिया न हो। उनकी हर दिन की बातचीत में यह साफ झलकता है। वे दूसरी संस्कृतियों से उधार लेकर कुछ मिक्स एंड मैच सम्मिश्रण भी तैयार करते है, जो उन्हें नया दीखता है। उनके खाद्य, पानीय, वस्त्र, भाषा इत्यादि सभी क्षेत्रों में इसकी मिसाल देखने को मिल जाती है। इस तरह टुकड़ों टुकड़ों से बना जोड़ "टाट का पैबंद" कहावत को ही चरितार्थ करता है, अथवा एक अभिनवत्व का भी सन्देश दे सकता है, यह विचारणीय हो सकता है।

स्व-सत्ता की अहमियत के कारण समाज अपने लिए पृथक पृथक नैतिकता को भी स्वीकृति दे देता है, जो अक्सर चिंता का विषय भी बन जाता है, क्योंकि तब हिटलर जैसे राक्षस और महात्मा बुद्ध जैसे संत के बीच कोई नैतिक अंतर नहीं रह जाता है। आज की राजनीति इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। नैतिकता जब अपना कोई विचार नहीं थोपती है, तो वह पसंद नापसंद तक सीमित हो जाती है। नैतिकता की दृष्टि से अब सवाल यह नहीं है कि आपको क्या करना चाहिए, बल्कि आप 'किसी समस्या का समाधान कैसे करते है' — यह देखा जाता है। 'चाहिए' हमारे शब्दकोश से अब मिट चुका है। बीसवीं शताब्दी के महान जर्मन दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर_की दिलचस्पी इस बात को दिखलाना था कि दुनिया में घटनेवाली घटनाएँ हमारी मानवीय स्थिति का चित्र है, हम उनके साथ कैसे खड़े हैं— यह देखना भर है, उन पर 'चाहिए का टैग' लगाना उचित नहीं है।

'मैं' और 'तुम' के इस संबंध की दूरी जितनी बढती जाती है, उतना समाज के साथ संवाद समाप्त होता जाता है, मुश्किल यह है कि अपने आप से भी तब संवाद ख़त्म हो जाता है, क्योंकि संवाद के लिए भी तो हमें दूसरा ही चाहिए! टेलीविज़न के कार्यक्रमों में अक्सर निष्क्रिय दूरस्थ श्रोताओं को

सवाल पूछ कर सक्रिय बनाने की कोशिश की जाती है। युग्म का कार्य परस्पर विरोधों को तोड़ना है।

देरिदा अक्सर हमें उलझन में डाल देते हैं, जब वे युग्म के दोनों ध्रुवों की, जैसे, अच्छा बुरा, सच-झूठ, ज्ञान-अज्ञान, आदि की पैरवी करने खड़े हो जाते हैं। आप बहुत कुछ नहीं जानते हैं, तो मैं भी बहुत कुछ नहीं जानता हूँ। स्त्री घर का काम जानती है, तो पुरुष अक्सर उसमें अनाड़ी निकल जाता है। पुरुष यदि बाहर के कार्यों में माहिर है, तो स्त्री अनाड़ी निकल जाती है। ज्ञान और अज्ञान दोनों ही तो हमारे अन्दर एक साथ मौजूद हैं। बचपन में जब हम जान बूझ कर झूठ बोलते थे तो हम जानते थे झूठ बोलना अनुचित है, पर उसमें एक सजगता भी होती थी कि माँ ने मेरे झूठ को ठीक पकड़ लिया है। 'सच और झूठ' का युग्म हमारे अन्दर ही छिपा रहता है।

आज का समाज हमें सिर्फ मुठभेड़ करना सिखाता है। Dr. Jekyll and Mr. Hyde की तरह दोनों मनोवृत्तियों का अच्छा खासा प्रदर्शन समाज के सभी क्षेत्रों में देखा जाता है, पर अर्धनारीश्वर की धारणा जो युग्म को साथ लेकर चलती है — को देखना आस्तिकों की झोली में ही कामयाबी हासिल करती है। अतः रात के आकाश में यदि युग्म तारों को दूरबीन की सहयता से देखा जाय तो वे अक्सर पृथक पृथक तारों के रूप में दिखाई देते हैं, जबकि नग्न आंखों से गुरुत्वाकर्षण के खिंचाव के कारण वे एक ही वस्तु के रूप में देखे जाते हैं।

भगवती चरण वर्मा के उपन्यास चित्रलेखा की अंतिम पंक्तियाँ विचार करने लायक है, जो पाप और पुण्य की सीमा का अतिक्रमण कर जाती है — 'हम न पाप करते हैं, न पुण्य करते हैं, हम वही करते हैं, जो हमें करना पड़ता है'। शायद उत्तर-उत्तर आधुनिकतावाद यही वार्ता देना चाहता है।

(मई २५, २०२४)

११

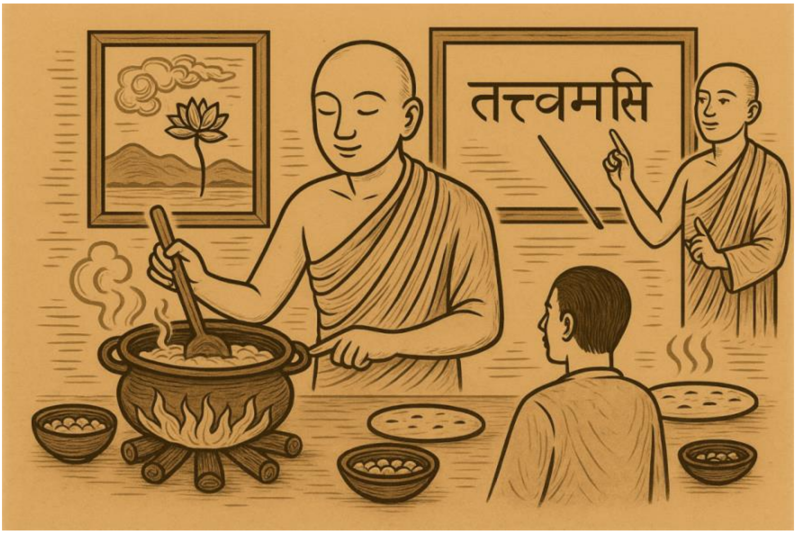

(कोई सवाल उठा सकता है 'बन्ध' और 'मोक्ष' यह तो एक तरह का विरोधी समन्वय है। मोक्ष किससे? फिर बन्धन कैसा? यही तो हमारी बिडम्बना है, मन छुटकारा भी पाना चाहता है, और बंधना भी चाहता है!)

रसवती – बन्ध मोक्ष कारणम्

एक दिन अचानक मेरे शिक्षक का फ़ोन आया कि वे हम चार लोगों को दोपहर के भोजन पर आमंत्रित करना चाहते थे, अँधा क्या चाहे दो आँखे! हमारे लिए यह विशेष दिन था, उनके स्नेह की छत्रछाया में समय बिताना जो अक्सर कक्षा में संभव नहीं होता था। शिक्षक महोदय ने खुद अपने हाथों से पारंपरिक तरीके से कहवा, कश्मीरी चाय हमारे लिए बनाई। उनका कहना था कि 'मुझे रसोई में काम करना अच्छा लगता है, इससे मुझे *मुक्ति या मोक्ष* का एहसास होता है'। रसोई को सम्पूर्ण व्यवस्थित करते हुए उन्होंने अपनी देख-रेख में पूरा आयोजन किया, जो न केवल पाक कला में उनकी पारदर्शिता अपितु उनकी संपूर्ण सत्ता को अभिव्यक्त कर रहा था। उन्होंने सबकी रूचि का ख्याल रख कर भोजन की व्यवस्था की थी। हम यदि कोई सहायता करने का प्रयत्न भी करते तो वे यह कह कर मना कर देते कि 'मुझे रसोई में काम करने के वक्त कोई झल्लाहट नहीं होती है, क्योंकि यह मुझे मुक्ति की उड़ान देता है। मुझे लगता है जैसे मैं किचन की खिड़की से एक नई दुनिया में प्रवेश करता हूँ'।

"मोक्ष का एहसास" रसोई घर में सुन कर आश्चर्य हो सकता है, क्योंकि अक्सर महिलाएं इसे कैदखाना समझती हैं, जहाँ उनकी इच्छाओं का दमन और उम्मीदों को भूना जाता है, उनके सपनों को उबाला जाता है। एक समय मैंने अपनी एक शिक्षिका को यह कहते सुना था कि, 'मेरी सारी कवितायें अब चूल्हें पर भेंट चढ़ चुकी है'। मेरे एक भाई साहब अक्सर कहते थे, "औरतों की ९०% जिन्दगी चौके में बीतती है"। महिलाओं को बचपन से ही रसोईं घर का रखरखाव करना, खाना बनाना इत्यादि घुट्टी में पिलाया जाता है। तर्क दिया जाता है 'पढ़ कर क्या करोगी चूल्हा चौका ही तो फूंकना है'। इसके विपरीत कभी कभी माँ को यह भी सुनने को मिलता था, 'जब देखो चौके में घुसी रहती हो'। यह रोजमर्रा की बातें एक अंतहीन प्रक्रिया के तहत घटती थी, जिससे माँ को कभी छुट्टी नहीं मिलती थी। इस प्रसंग में जया बच्चन द्वारा अभिनीत नाटक 'माँ कभी रिटायर नहीं होती' की

बात सहसा याद आ जाती है। इन्हीं सब बातों के मद्दे नज़र कुछ महिलाएं तो आजीवन खाना पकाने को एक छोटा और तुच्छ काम समझने लगती है।

इसका पाश्चात्य रूप 'नारीवाद आन्दोलन' के रूप में प्रकट हुआ और वे मानने लगी कि रसोईघर पुरुषों द्वारा महिलाओं के लिए बनाई गई जेल, हाशिये पर ढकेलने की एक सामाजिक साजिश, उनकी भावनाओं को दमित करने की कोशिश, पुरुषों की नज़र में हीन बनाने की प्रक्रिया है। महिलाएँ इस पीड़ा से जूझती, टकराती अपनी अस्मिता को खंगालती, अपना आक्रोश निकालती है— रसोई घर की उपेक्षा करके। कुछ विद्वानों ने औरतों को इस घरेलू समस्या से मुक्ति दिलाने का बीड़ा भी उठा लिया और वकालती करने लगे कि इस सामाजिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन सिर्फ कानून में सुधार लाने से नहीं हो सकता है, स्त्रियों को आर्थिक रूप से सशक्त तथा सक्षम होना पड़ेगा। रसोईघर को कैदखाना के बदले मुक्ति का आकाश समझना उनकी इसी स्थिति पर निर्भर करता है।

हमारे यहाँ शास्त्रों में '*अन्न को ब्रह्म*' कहा गया है, तथा इसके धारक प्राणों को 'अन्नमय कोष' की संज्ञा दी गई है। स्त्री उसकी वाहक समझी जाती है। कई घरों में जूते पहनकर रसोईघर में जाना, बिना नहाए खाना पकाना और बिना नहाए भोजन करना तक मना होता है, क्योंकि ज्यादातर घरों में एक कोना पूजा के लिए भी निर्धारित कर दिया जाता है।

पर हम भूल जाते हैं कि पाक-कला नाटक की तरह एक जटिल तथा **रचनात्मक** प्रक्रिया **है,** जो भोजन, संस्कृति, मानवीय संबंधों और शारीरिक आवश्यकताओं का आधार है**।** हमें इसके लिए किसी किताब को खोलने की जरूरत नहीं पड़ती है**।** सब्जी में कितना नमक-मसाला डालना है, चाय में कितनी पत्ती डालनी है, मिर्चा देना है कि नहीं, सब कुछ अंदाज़ से और रूचि के अनुसार चलता है**।** फिर यह भोजन इतना अपना लगता है कि कहीं भी बाहर जाओ, घर का खाना ही याद आता है, इसलिए मां के जाने के साथ उसके हाथ के भोजन का स्वाद भी चला जाता है। प्रसिद्ध शेफ विकास खन्ना कहते हैं, 'मै जब बनारस के गंगा घाट पर जाता हूँ तो मुझे खाने के नए नए प्रयोग करने की प्रेरणा मिलती है। मेरी रचनात्मकता सक्रिय हो उठती है। खाना बनाने के कई तरीके दिमाग में **उपज**ने लगते

हैं। यह वही 'उपज' है जो एक तबलावादक वादन के समय प्रयोग करता है, अर्थात नए से नए 'बोल' उसके दिमाग में खलबली मचाने लगते हैं। ऐसे रसोईघर को हम जेलखाना कैसे कह सकते हैं'?

इसका ये मतलब भी नहीं है कि ज्ञान दस्तावेज़ों में नहीं मिलता है। प्राचीन ग्रन्थ नल रचित "पाक दर्पण" पकाने की क्रिया का विस्तृत वर्णन कर उसे एक कला का रूप देता है, जो रसोई में रह कर मुक्ति का स्वाद भी चखा देता है, क्योंकि इसके साथ हमारे आवेगों की डोर बंधी रहती है। यह हमारी जीवन शक्ति का स्रोत होता है। सिर्फ दासत्व नहीं बल्कि यह हमें स्वयं को विकसित होने का मौका देता है। सौन्दर्य शास्त्र में वर्णित सभी इन्द्रियों का यह आगार है। जैसे एक चित्रकार रंगों से, संगीतकार सुरों से खेलता है, मूर्तिकार हाथों के स्पर्श से तथा गंधी नासिका से इत्र कला का सृजन करता हैं, रसोइया पांचों इन्द्रियों का प्रयोग करके भोजन को लज़ीज़ बनाता है। चूल्हे पर रखे बर्तनों और कड़ाही में पड़ी दाल का खदबदाना, सब्जी का हलचल मचाना, तवे पर पड़ी रोटी का फूल जाना, कुरकुरे पापड़ की खड़खड़ाहट को महसूस करना किसी कविता लिखने से कम नहीं होता है। जलेबी की जटिलता तो शीघ्र ही हमारे तनावों का हरण कर लेती है।

'Alice in wonderland' में एलिस रसोई घर में प्रवेश करती है, तो देखती है एक अव्यवस्थित रसोई घर। रानी बच्चे को दूध पिलाती दिखाई देती है, बच्चा दूध की बोतल बार बार फेंकता रहता है, चारो तरफ धुँआ ही धुँआ, बिल्ली बैठी मुस्करा रही है, बच्चे के प्रति रानी का व्यवहार निर्दयता से भरा है, रसोइये का इधर उधर चीजों को फेंकना इत्यादि, एक अद्भुत पागलपन में भी वैचित्र्य का बोध कराता है। एलिस इन सभी तथाकथित अर्थहीन गतिविधियों को चटकारे लेकर इन अविस्मरणीय क्षणों को संजो कर भरपूर आनंद लेती है। ऐसे में बच्चों के लिए लिखी गई एक कविता का स्मरण हो आता है जो लैंगिक भेद-भाव को नकारते हुए उल्लास और आनंद की अभिव्यक्ति है —

चूल्हा फूंक रहे है बापू, नाच रही है मैया

रोटी बेल रहा है मुन्ना, फ़ौज बनी है मुन्नी

घर का नौकर खेल रहा है, फुदक रही गौरैया ...

रसोईघर का यह दृश्य किसी भी सौन्दर्यपारखी को आह्लादित कर सकता है। यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि अभी मेरे पास सही संदर्भ उपलब्ध नहीं है किन्तु जहां तक मुझे स्मरण पड़ता है, यह कविता प्रसिद्ध नारीवादी एक्टिविस्ट कमला भसीन की लिखी हुई है जिनका करीब तीन वर्ष पहले देहांत हो गया था।

अंत में अपने एक और अध्यापक का उल्लेख करना चाहूंगी। एक समय सुबह की सैर करते समय जब वह वेदान्त दर्शन की मुक्ति का प्रसंग समझा रहे थे, तो उन्होंने कहा, "देखो, कल रात मैंने सपना देखा कि मेरी पत्नी इडली, डोसा बना रही है और मैं खा रहा हूँ, क्योंकि जब से मै यहाँ (लखनऊ) आया हूँ, मुझे अपने दक्षिण भारत के व्यंजन की हूक उठती, मै लाचार हो जाता हूँ। मेरे अन्दर घर के भोजन की जो सूक्ष्मवासना है, सपने के रूप में कल रात प्रकट हो गयी। तुम लोगों को पढाता भी हूँ, समझाता भी हूँ, लेकिन इस सूक्ष्मवासना को कहाँ ले जाऊँ, जो मुझे कुरेदती रहती है। वेदांत में जिस 'अहं ब्रह्मास्मि या तत्त्वमसि' का उल्लेख किया गया है, वह मै सपने में कैसे भूल जाता हूँ? तुमलोग भी इसे समझने की कोशिश करो, तराशो उसे सागर के मोती की तरह, जो वक्त और हालात की मार सहते सहते बेशकीमती हो उठता है, जिसका अधिकतम मूल्य सिर्फ जौहरी ही आँक सकता है। क्या यह मुक्ति से किसी भी अर्थ में कमतर है?

(जून १५, २०२४)

१२

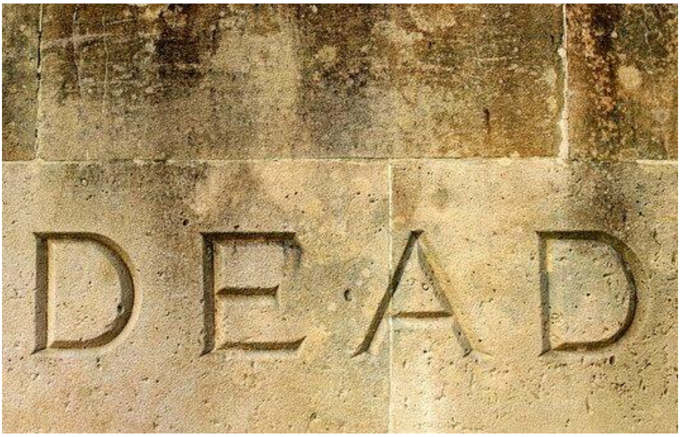

(इस लेख का विषय ऐसा है जिसे हम अपने बाल्यकाल से सुनने लगते हैं, किन्तु जिसका उत्तर इतना सीधा-सादा है कि हमें लगता है कि फिर यह पूछा ही क्यों जाता है? आपने शीर्षक में पढ़ा ही है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। यदि इसे प्रश्न के रूप में लिया जाए तो उत्तर तो 'हाँ' ही होगा लेकिन अगर दर्शनशास्त्री सीधे उत्तर दे देंगे तो भला आप और हम उन्हें फिलॉसफर कैसे समझेंगे (यह बात सिर्फ मुस्कराहट लाने के लिए कही गई है)! अब देखना है कि क्या कोई अन्य दर्शनशास्त्री हमें यह भी बताएगा कि चलो, मनुष्य तो मरणशील है किन्तु आत्मा का क्या, वह तो मरणशील नहीं – तब क्या हम अपने जीवनकाल में ही अपनी देह और आत्मा को अलग करके देख सकते हैं? आप कह सकते हैं कि आत्मा को देखना तो संभव नहीं लेकिन क्या हम देह और आत्मा को अलग-अलग महसूस कर सकते हैं? बहरहाल, सम्बद्ध प्रश्नों के उत्तर हम जुटाने का प्रयास करते रहेंगे।)

सभी मनुष्य मरणशील हैं

शिक्षिका ने कक्षा में घुसते ही श्यामपट पर लिखा—

सभी मनुष्य मरणशील हैं,

सुकरात मनुष्य है,

अतएव, सुकरात मरणशील है।

और समझाने लगी कि यह निगमन अनुमान (Deductive Reasoning) का विषय है— प्रथम दो हेतु वाक्यों से सिद्धांत निश्चित रूप से निसृत होता है कि, 'सुकरात मरणशील है'। पर यह कोई नई बात नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी जो जन्म लेते हैं, कभी न कभी मृत्यु को प्राप्त होते ही हैं। बात सिर्फ इतनी है कि उपर्युक्त सत्य को अनुमान के द्वारा प्रमाणित किया गया है। यह तो वही बात हुई न कि किसी ने आपको खून करते देख लिया, तो भी न्यायालय में उसका प्रमाण माँगा जाता है, क्योंकि हो सकता है उसने गलत देखा हो। आँखों पर भी तो कोई भरोसा नहीं रहा। उपर्युक्त निगमन अनुमान वैध है, और सिद्धांत सत्य है। पर अक्सर ऐसा होता नहीं है, जैसे—

सभी मनुष्य अमर हैं,

सुकरात एक मनुष्य,

अतएव, सुकरात अमर है।

तार्किक नियमों के अनुसार उपर्युक्त अनुमान वैध होने पर भी, सिद्धांत सत्य नहीं है। इस निगमन अनुमान की प्रक्रिया में हम जिस सामान्य वचन से विशेष वचन की ओर जाते हैं, उस सामान्य वचन की प्रमाणिकता की जाँच कैसे होगी? हम सभी अपने अपने अनुभव में किसी न किसी को मरते अवश्य देखते हैं, और निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'।

यह सत्य है कि जैविक रूप से हर प्राणी के शरीर की कोशिकायें निरंतर नष्ट होती रहती है, जो उसे धीरे धीरे मृत्यु की ओर ठेल देती है। पर सभी मनुष्यों को मरते हुए किसने देखा है? क्या चिकित्सा विज्ञान ने ऐसी किसी तकनीक को विकसित किया है, जिससे मनुष्य अमर बन सके? यदि हाँ, तो इस वाक्य की सत्यता प्रामाणिक नहीं रहेगी।

मरणशील होना और अमर होना दो विपरीत धर्म है। हमारे दूसरे उदाहरण में सिद्धांत वाक्य "सभी मनुष्य अमर हैं' को सत्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि हमने आज तक ऐसा अनुभव में देखा नहीं है। हाँ, सुना जरूर है, अश्वत्थामा और हनुमान इत्यादि मिथकीय चरित्रों की अमरता के सम्बन्ध में, जो आस्था का विषय है।

कई बार अनुभव के आधार पर हम अंदाज़ कर लेते, 'आज स्कूल की छुट्टी हो जाएगी क्योंकि आज बरसात हो रही है', या 'कक्षा में विद्यार्थी कम है तो आज पढाई नहीं होगी'। इसके पीछे हमारा तर्क होता है, 'जब जब पानी बरसता है, तब तब स्कूल बंद हो जाता है।' किन्तु इस प्रकार आगमन अनुमान (Inductive Reasoning) से प्राप्त निष्कर्ष को अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। अनुभव में गलत होने की संभावना बनी रहती है। इसलिए इसे संभाव्य ही कहा जाता है। विज्ञान के प्रयोग प्रायः अनुभव केन्द्रित ही होते हैं, अतः उनकी सत्यता भी संभाव्य होती है। हमारी दैनन्दिन जिन्दगी अनुभव सापेक्ष है, जहाँ हम आगमन तर्क का सहारा लेते हैं। इसलिए 'भी मनुष्य मरणशील हैं', यह वचन निरपेक्ष सत्य नहीं हो सकता है। 'मनुष्य' और 'मरणशीलता' कार्य-कारण सम्बन्ध के बारे में कोई निश्चयता प्रदान नहीं करता है, क्योंकि इनके बीच कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। उदाहरण के लिए 'बाज़ार में जब प्याज का दाम बढ़ता है, तो अपराध ज्यादा होते है'— ऐसा कहना कुछ हद तक सही हो सकता है। पर अंततः यह सही साबित नहीं होता है, क्योंकि जब प्याज़ का दाम कम था, तब कहीं ज्यादा अपराध होते थे। यह मात्र एक काकतालीय सम्बन्ध हैं, यानी दो घटनायें एक साथ घटती है, पर उनमें कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं होता है।

Nassim Nicholas Taleb अपनी पुस्तक The Black Swan में दिखलाते हैं कि इस जगत की घटनाओं में नियमानुवर्तिता होने के बावजूद भी कुछ अनियमिततायें होती है, जिनकी हम अक्सर उपेक्षा कर जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि हम ईश्वर पर विश्वास करते हैं, तो हम ईश्वर पर अविश्वास करने वाले सभी तर्कों को ख़ारिज कर देते हैं । ऐसा हम इसलिए करते हैं, क्योंकि हमारे अन्दर छिपे जो संस्कार है वे प्रतिबंधक बन जाते हैं। वे कहते हैं, जब तक हमने अपने अनुभव में काला राजहंस नहीं देखा था, तब तक 'सभी राजहंस सफेद होते हैं' इस वाक्य को सत्य मानते थे। अचानक एक दिन काला राजहंस दिख गया, और हमारा यह वाक्य मिथ्या प्रमाणित हो गया। वे एक अत्यंत रोचक दृष्टान्त से 'काले राजहंस' की उपमा का अर्थ समझाते हैं। आप किसी नजदीकी व्यक्ति के बारे में साधारणतः जानते हैं, कि वह किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करता है, पर कभी विपत्ति के समय जब वह मुंह मोड़ लेता है, तो आप दंग रह जाते है कि 'अरे ! यह तो ऐसा नहीं था।' असल में आपने उसके इस स्वभाव को पहले अनदेखा कर दिया था। कार्ल पापर (Karl Popper) इसलिए किसी सामान्य वाक्य की सच्चाई जानने से पहले उन परिस्थितियों का कठोरता से परीक्षण करने की सलाह देते हैं, जिनके तहत वे मिथ्या हो सकते हैं।

इसी प्रसंग में 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' उपन्यास की लेखिका Simone de Beauvoir का उल्लेख प्रासंगिक होगा। उपन्यास का किरदार Raimon Fosca अपने शहर में शांति सुरक्षा स्थापित करने के लिए अमर होना चाहता है। लेकिन अमर हो जाने पर उसे आभास होता है कि उसे सिर्फ अपने शहर ही नहीं, पूरे इटली पर नियंत्रण करना होगा, और फिर पूरी दुनिया पर। लेकिन अमर होने से Fosca मनुष्य होने के सभी गुणों को खो देता है, जिन्दगी से उसे अब कोई खतरा नहीं है, वह अमर है। वह हर चीज को ऐसे देखता है जैसे वह अतीत का हिस्सा हो। वह जीवन का सौन्दर्य और अपना लक्ष्य भी भूल जाता है। सारा जगत उसके लिए दीमक का पहाड़ बन चुका है। साथ ही साथ उसे यह भी एहसास होने लगता है, कि वह कभी भी अपने प्रयासों में सफल नहीं हो सकता है। उसे जीवन की व्यर्थता और अमरत्व के वरदान के बीच द्वंद्व की अनुभूति होने लगती है।

दूसरी तरफ जीवन की क्षणभंगुरता हमें एहसास दिलाती है कि हर क्षण का सदुपयोग करो जिससे हमारा अस्तित्व सार्थक हो सके, क्योंकि हमारा समय इस पृथिवी पर सीमित है। हमें अपनी वास्तविकता से हर क्षण मुठभेड़ करनी चाहिए। मृत्यु को स्वीकार कर लेने से हमारे सपने तेजी से जाग उठते हैं, खतरा लेने का जोखिम भी हम उठा लेते हैं। जीवन में तो हम उच्च कोटि और निम्न कोटि, धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित खेमों में बंट जाते हैं, पर मृत्यु में हम समान हो जाते हैं।

टॉलस्टॉय जीवन से निराश होकर स्वयं से पूछते हैं, "दुनिया में जो वस्तुएँ है, वे क्यों है? मै क्यों हूँ? उनके पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हैं। 'आकाश नीला क्यों है' इसकी व्याख्या तो दी जा सकती है— सूर्य की रश्मियाँ वायुमंडल में कुछ यूँ छिटकती है कि आकाश नीला दिखाई देने लगता है। किन्तु तर्क का काम है यह बतलाना कि किस प्रयोग के द्वारा हमें यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि 'आकाश नीला हैं' । वस्तुतः तर्क करना एक कला और विज्ञान दोनों है, जिसका निर्माण हम करते हैं, और साथ ही साथ इसका परीक्षण-निरीक्षण भी।

Alice in Wonderland में एलिस का सामना ऐसी घटनाओं से हर क्षण होता है, जो वास्तव जगत में नहीं घटती है, जैसे पशु आपस में हमारी तरह ही बातचीत करते हैं, ताश खेलते हैं, क़ानूनी कार्यवाही भी करते हैं इत्यादि। एलिस कुछ ऐसे ही तर्क का सहारा लेकर कहती है, 'सभी बिल्लियाँ फ्रेंच भाषा समझती है, कुछ मुर्गियां बिल्ली होती है, अतएव कुछ मुर्गियां फ्रेंच भाषा समझती है। सिद्धांत गलत होने पर भी तर्क वैध कहा जाता है। जो कुछ प्रथम हेतु वाक्य में कहा गया उसी से सिद्धांत निसृत हो रहा। एक अन्य उदाहरण से इसे स्पष्ट कर सकते हैं। जैसे 'त्रिभुज' शब्द की परिभाषा में ही अन्तर्निहित है कि 'त्रिभुज की तीन भुजाएं होती है'। हालाँकि, संसार में 'त्रिभुज' नाम की कोई वस्तु नहीं है, यह एक अमूर्त धारणा है, जिसे हमने बनाया है और मूर्त वस्तुओं पर लागू कर दिया हैं, अर्थात हम अपने शब्दों के अर्थों को खुद गढ़ते हैं, और उनका प्रयोग करते हैं।

अपनी साहसी यात्रा के अंत में एलिस इस निष्कर्ष पर आती है कि वह एक स्वप्न देख रही थी। एक दूसरा जगत, जो इस परिचित जगत के समकक्ष

चल रहा था और जो इससे सम्पूर्ण विपरीत था। जितने भी तार्किक नियम है, उन सबका खंडन एलिस के जगत में हम देखते हैं। जीवन की जटिलताओं को तार्किक नियमों से नहीं जाना जा सकता है। वस्तुतः 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' इस वाक्य की सत्यता तभी प्रमाणित की जा सकती हैं, जब यह निश्चित हो जाये कि 'यदि कोई एक 'क' मनुष्य है', तो वह मरणशील अवश्य होगा। प्रश्न यहीं आकर थम जाता है—क्या कोई एक भी 'क' मनुष्य है? **(जून ०६, २०२४)**

१३

(दसवें लेख की भूमिका में हमने प्रश्न उठाया था कि मनुष्य तो मरणशील है किन्तु आत्मा का क्या होगा, वह तो मरणशील नहीं – तब क्या हम अपने जीवनकाल में ही अपनी देह और आत्मा को अलग करके देख सकते हैं? डॉ मधु कपूर ने हमारी पुकार सुनी और अपने बारहवें लेख में वह शरीर, आत्मा और मन पर चर्चा करती हैं। विषय गूढ़ है लेकिन अपने चिर-परिचित अंदाज़ में वह इसे काफी रुचिकर बनाते हुए पेश करती हैं। आइए, देखें क्या कहती हैं वह इस विषय पर!)

आत्मा शरीर का अनंत स्वप्न

किसी आकस्मिक घटना में हाथ गंवाने वाला व्यक्ति उसी हाथ से चाय पीने की कोशिश करता है, युद्ध में पैर खोने वाला सिपाही उसी पैर में दर्द की शिकायत करता है, किसी प्रिय की मृत्यु होने के बाद भी उसकी वास्तविक उपस्थिति का एहसास होना और उससे बातें करना इत्यादि – इस तरह के कितने ही दृष्टान्तों में देखा जाता है कि व्यक्ति बिना अंग के ही उसका कार्य संपन्न करना चाहता है। आखिर देह के साथ मन का कोई तालमेल क्यों नहीं होता है?

साधारणतया मनुष्य को शरीर और मन की एक सम्मिलित इकाई कहा जाता है पर यह स्पष्ट नहीं है कि क्या मन और शरीर दो अलग-अलग सत्ताएं हैं, अथवा ये परस्पर कार्य-कारण रूप से बंधी रहती है? उदाहरण के लिए यदि शरीर अस्वस्थ होता है तो मन भी अस्वस्थ हो जाता है, और शरीर के स्वस्थ होने पर मन भी स्वस्थ और चंगा हो उठता है। यदि किसी व्यक्ति को क्रोध आता है, तो उसका मन अस्थिर हो जाता है, मन अस्थिर होने से उसका पूरा शरीर बेकाबू हो जाता है। स्वाभाविक रूप से वही प्रश्न पुनः उठता है कि देह और मन का आपस में क्या सम्बन्ध है?

भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में देखे तो माना गया है कि मनुष्य-शरीर अत्यंत दुर्लभ है, जो 84 लाख योनियों के पश्चात् प्राप्त होता है। मृत्यु के समय सिर्फ पार्थिव शरीर रह जाता है, जिसका महत्व प्रियजन के लिए भी नहीं रह जाता है । इसलिए जब तक शरीर है, हम उसे सत्य मानकर उसके मोह में फंसे रहते हैं, और भौतिक सुखों के पीछे भागते रहते हैं। प्राणी शरीर पञ्च भूततत्त्वों – पृथिवी, जल, पावक, गगन, वायु — से बना है। जब तक पञ्च तत्त्वों में संतुलन बना रहता है, तब तक शरीर की सभी जैविक क्रियाएं अनुकूल रूप से कार्य करती रहती हैं, पर जैसे ही इनमें असंतुलन उत्पन्न होता है, शरीर अस्वस्थ या फिर पञ्च तत्त्वों में विलीन हो जाता है।

दूसरी ओर मन या आत्मा का अर्थ है चेतन सत्ता। ऐसा कहा जाता है कि मृत्यु के पश्चात् भी इसका विनाश नहीं होता है। इसलिए संन्यासी शरीर को नाशवान और गौण मानकर आत्मा की आराधना में लीन तथा सभी प्रलोभनों से दूर रहते हैं (मैं आदर्श संन्यासी की बात कर रही हूँ) । यहाँ यह बात ध्यान रखने की है कि पाश्चात्य दर्शन में **मन और आत्मा एक ही अर्थ** में प्रयुक्त होते हैं, जबकि भारतीय दर्शन में मन को अंतरिन्द्रिय का दर्ज़ा दिया गया है, अर्थात पञ्च इन्द्रियों के स्थान पर षष्ठ इन्द्रिय कहना बेहतर होगा, जबकि आत्मा एक पृथक सत्ता मानी जाती है।

शरीर की सामान्यतया तीन अवस्थाएं कही जाती है— स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीर। स्थूल शरीर जो क्रमशः पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, चार अन्तःकरण वृत्तियों – मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार – का समुदाय होता है। पञ्च इन्द्रियाँ — यथाक्रम से घ्राण →गंध, रसना → स्वाद, चक्षु → रूप, त्वक् → स्पर्श और श्रोत्र →शब्द के द्वारा बाह्य जगत को अपना विषय बनाती है, जबकि मन अंतरिन्द्रिय होने के कारण सुख-दुःख, विचार, स्मृति और कल्पनादि को अपना विषय बनाता है। पाँच कर्मेन्द्रियों का प्रयोग हमें बाहरी जगत में क्रियाशील बनाता है, वातावरण से संवाद साधने में मदद करता हैं। ये पंच कर्मेन्द्रियां हैं – **वाक् –**हमें अपने विचार और भावनाओं को शब्दों के माध्यम से प्रकट करने की क्षमता प्रदान करती है। **पाणि** – हमें वस्तुएं पकड़ने, वस्त्र पहनने, लिखने और अन्य बाहरी कार्यों में सहायक होती है। **पाद –** एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने में सहायक होते हैं। **पायु** – हमें शरीर के अनावश्यक पदार्थों को बाहर निकालने में सहायक होते हैं। **उपस्थ** हमें प्रजनन की क्षमता प्रदान करते हैं। **स्थूल शरीर** जो एक बाहरी आवरण है **अन्नमय कोष** कहलाता है, जिसे हम देख सकते हैं, छू सकते हैं, शल्य चिकित्सा कर सकते हैं इत्यादि। स्थूल शरीर के माध्यम से ही संसार के भोगों का अनुभव जीवात्मा करती है।

सूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत किन्तु अन्न के द्वारा निर्मित व पोषित होता है। स्वप्नावस्था सूक्ष्म शरीर की एक विशिष्ट अवस्था है, जो जाग्रत अवस्था में किए गए कर्मों की स्मृतियाँ अन्तःकरण वृत्तियों के द्वारा नाना रूपों में

उपस्थित करता है। सूक्ष्म शरीर को **प्राणमय, मनोमय** और **विज्ञानमय कोष** का आगार कहा जाता है।

फिर आता है '**कारण शरीर**' – यह वह बीज है या मूल वृत्ति है, जहाँ से सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर का निर्माण होता है। इनकी तुलना मनुष्य की जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था से की जाती है। जाग्रत अवस्था मे मनुष्य कर्ता भी है और भोक्ता भी है। स्वप्नावस्था में मनुष्य केवल भोक्ता है, वह करता कुछ नहीं है। सुषुप्ति अवस्था में मनुष्य न कर्ता होता है न भोक्ता होता है, फिर भी असीम सुख की अनुभूति उसे होती है। जैसे गाढ़ी नींद से उठने के बाद हम कहतें है कि 'बहुत गहरी नींद सोया कि इतने शोर-शराबे का मुझे कुछ अंदाज ही नहीं लगा'। '**कारण शरीर'** को इसलिए आनंदमय कोष कहा जाता है। इन तीनों शरीरों का आपस में सम्बन्ध कुछ इस प्रकार से समझा जा सकता है–

जो कपड़ा हम शरीर पर धारण करते हैं, उसका कारण है धागें और धागे का कारण है रूई। कॉटन-कुर्ता, धागा और रूई, क्रमशः **स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर का प्रतिनिधित्व करते हैं**। जो आपसी संबंध कुर्ता, धागे और रूई के बीच होता है, वही संबंध इन तीनों शरीरों में होता है। कारण शरीर के बिना सूक्ष्म शरीर नहीं बनेगा। सूक्ष्म शरीर के बिना स्थूल शरीर नहीं बनेगा।

इसके अलावा एक चौथी अवस्था (तुरीयावस्था) भी है जो एक नित्य आत्मिक अनुभूति का आनंद देती है, शास्त्रों में जिसे 'अवाङ्गमनसगोचर' की संज्ञा दी गई है। जिस तरह मीठे का स्वाद मीठा खाने वाला ही जानता है, उसे शब्दों में बयान करना नामुमकिन होता है, उसी तरह इस आत्मिक आनंद का बोध एकमात्र साधक ही कर सकता है। जब तब इसका क्षणिक आभास सृजनशील व्यक्तियों को भी होता है, जहाँ पूर्ण मनोयोग से आनन्द एकीभूत हो जाता है, किसी गायन, किसी चित्रकला अथवा अन्य किसी भी प्रकार की सृष्टिशील कला के माध्यम से। यद्यपि आत्मा का अस्तित्व शरीर से पृथक माना गया है, तथापि बिना देह के आत्मा का स्थायित्व संशयहीन नहीं रह पाता है।

यदि हम आत्मा के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं तो विश्व जगत की सभी वस्तुओं को दो भागों में बाँट कर विचार करना चाहिए – **द्रष्टा** यानी विषयी तथा **दृश्य** यानी विषय। विश्व अनन्त वस्तुओं का भण्डार है, जैसे चट्टान, तारे, नदी, पहाड़ और गाड़ी, सिगरेट आदि सभी विषयों को हम देखते है, पर देखने वाला द्रष्टा एक चेतन सत्ता है, जो सिर्फ देख सकता है, स्वयं दृश्य नहीं बन सकता है। जिस तरह हम अपनी आँखों को अपनी ही आँखों से कभी नहीं देख सकते हैं, क्योंकि जो द्रष्टा है वह दृश्य या विषय कैसे बन सकता है? दृश्य बनते ही उसे देखने वाला एक और द्रष्टा प्रकट हो जाता है। इस तरह यह परंपरा अनंत काल तक चलती रहती है। भविष्य में इस प्रसंग पर हम पुनः वापस आयेंगे।

फ़िलहाल जिस चेतन सत्ता या आत्मा की बात हम कर रहे है, उसका व्यावहारिक संबोधन 'मै' प्रत्यय के द्वारा होता है। 'मैं' की सत्ता का निर्माण समाज और आसपास के वातावरण से तैयार होता है, जिनसे हमने अपना तादात्म्य स्थापित कर रखा है। 'मैं गोरा हूँ, मैं शिक्षक हूँ, मैं अमुक वंश में जन्मा हूँ, मैं अमुक नाम से जाना जाता हूँ, मैं भारतीय हूँ' इत्यादि, मेरे अस्तित्व को समृद्ध और पुष्ट करते हैं। मैं अभी इसी व्यावहारिक आत्मा की बात करना चाहती हूँ, जिसे अभिव्यक्ति के लिए शरीर की आवश्यकता पड़ती है। जैसे कम्प्यूटर सिस्टम में किसी भी प्रोग्राम को चलाने के लिए सॉफ़्टवेयर एवं डिवाइस के रूप में हार्डवेयर की ज़रूरत होती है, वैसे ही शरीर को चलाने के लिए जिस चालिका शक्ति की आवश्यकता होती है, उसे चेतन आत्मा कहते हैं।

हालाँकि, शरीर और मन के बीच कोई बातचीत नहीं होती है, क्योंकि देह जड़ है और आत्मा चेतन है, तथापि इनकी ट्यूनिंग ऐसी होती है कि शरीर के किसी भी अंग पर चोट लगने के बाद 'ओह-आउच' मुंह से निकल जाता है। इनकी बारीक-ट्यूनिंग सितार के तारों की तरह होती है। ट्यूनिंग यदि सटीक हो, तो किसी एक तार को छूने पर उस पिच पर बंधे सभी तार बिना स्पर्श किये ही झनझनाने लगते हैं। इसलिए यह पूछना ज़रूरी नहीं है कि 'सितार के सुर' कहाँ है, क्योंकि वह तो सितार में ही है, लेकिन सुर का

आरोपण किसने किया? उस चेतन सत्ता ने जो शरीर में ही उपलब्ध होती है।

रात भर गहरी नींद में सोने के पश्चात् भी हमें सुबह उठ कर याद रहता है कि 'कल क्या हुआ था, कल मैं कहाँ गया था, कल मैंने क्या खाया था' इत्यादि। यदि यह सारी स्मृतियाँ लुप्त हो जाएँ तो दुर्भाग्यवश स्मृति-भंग (Dementia) के मरीजों की तरह मै किसी को भी पहचान नहीं पाउँगी, क्योंकि अस्तित्व को परिभाषित करने वाली क्रिया मननशीलता को मैं खो चुकी हूँ। पर मुझे देखनेवाले अन्य दूसरे लोग मुझे सहज ही पहचान लेंगे। प्रश्न घूम कर पुनः एक ही जगह खड़ा हो जाता है कि हम क्या है? शरीर या आत्मा?

एक निश्चित अर्थ में, आत्मा एक दर्पण की तरह काम करती है, जो दर्शाती है कि 'मैं लिखने की कोशिश कर रही हूँ, मैं दोपहर के भोजन के लिए चिंता कर रही हूँ, मुझे बाज़ार से क्या क्या लाना है' इत्यादि। न्यूरोसाइंटिस्ट कोशिकाओं की कार्यात्मक लहरों को ग्राफ के माध्यम से दिखा तो देते हैं कि मेरे मस्तिष्क में लाल रंग की प्रतिक्रिया कैसी हो सकती है। परन्तु एक जन्मांध व्यक्ति के लिए 'लाल रंग को महसूसना' संभव नहीं हो सकता। जैसे चिकित्सक रोगी के दर्द को जान तो सकता है, पर उसे महसूस नहीं कर सकता है। अतः जो यह मानते हैं कि मानसिक घटनाएँ मस्तिष्क की प्रक्रियाओं का एक साइड इफ़ेक्ट मात्र हैं, उनके विचार बहुत सतही होते हैं। अभिनेता, कवि, लेखक परकाया प्रवेश करके पात्रों का चित्रण हूबहू कर सकते हैं, उनकी अनुभूति को एकात्म भी कर लेते हैं, पर कहीं एक द्रष्टा भाव उनके अन्दर भी बना रहता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण से **शरीर और आत्मा के इस द्वैतवाद** को आज भी एक समस्या के रूप में देखा जाता **है**। एक ओर संत कबीर साहब समझाते हैं "देह धरे का दंड है, जो पाए सो रोए", दूसरी ओर शंकराचार्य कहते हैं कि मनुष्य देह मिलना एक दुर्लभ संयोग है, जो हमें सत्संगति का अवसर प्रदान करता है। 'शरीर यदि न रहता तो मोक्ष की इच्छा नहीं जागती, शरीर यदि रहता तो मोक्ष नहीं मिल सकता है' – यह विरोधाभास ही शायद देह और आत्मा के मिलन का रास्ता प्रशस्त कर सकता है।

आध्यात्मिक जीवन के लिए समर्पित बंगाल का बाउल सम्प्रदाय अपने गीतों में शरीर की सर्वोच्च शक्ति और दिव्यता का उल्लेख करते हैं। आध्यात्मिक पिपासा के लिए, आंतरिक इच्छाओं और विरोधाभासों से मुक्ति पाने के लिए वे जिस मोनेर मानुष (मनमाफिक आदमी) की तलाश करते हैं, उसे वे शरीर के बिना प्राप्त नहीं कर सकते हैं। शायद इसी कारण सभी धार्मिक संप्रदायों में गुप्त साधना (तांत्रिक) का प्रावधान रखा गया है। अंत में कवि अशोक वाजपेयी के शब्दों में –

वृक्ष एक शरीर है
पृथ्वी के शरीर से उगता हुआ और अटूट
फूल तभी तक फूल है जब तक वह एक अंग है वृक्ष का
और पत्तियाँ तभी तक पत्तियाँ जब तक वे वृक्ष से ही लगी हैं
जब तक तुम साधे हो उसके शरीर को
तभी तक उसकी आत्मा भी तुमसे अटूट है। **(जून २६, २०२४)**

१४

(“कोई कहता है मृत्यु के बाद जीवात्मा शरीर को कपड़ों की तरह बदल कर अन्य शरीर धारण कर लेती है, कोई कहता है, जीवात्मा परम आत्मा में विलीन हो जाती है, कोई कहता है — शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जाती है। लेकिन मेरे पास आत्मा की धारणा अभी भी स्पष्ट नहीं है”। जर्मन दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर (Martin Heidegger) के वक्तव्य से कुछ आगे छलांग लगाने का शायद अवसर मिल जाएँ, इसी उम्मीद से यह लिख रही हूँ।)

आत्मा की धारणा:
अपना समाज स्वयं चुनती है आत्मा!*

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक एवं गणितज्ञ रेने देकार्ते (Descartes) का बहुचर्चित वाक्य "I think, therefore, I exist" विशुद्ध आत्मा को प्रथम प्रामाणिक सत्य मानता है। देकार्ते कहते हैं, मैं दुनिया की हर चीज को संदेह की नज़र से देख सकता हूँ सिवाय अपने अस्तित्व के, क्योंकि जब मैं स्वयं को संदेह करता हूँ, तो मेरा अस्तित्व यानी संदेह-कर्ता का अस्तित्व बना रहता है। एक अन्य प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक एडमंड हसरल (Husserl) देकार्ते के इस कथन को पुष्ट करते हुए कहते हैं, आत्मा की सभी क्रियाओं, जैसे देखना, चिंता करना, कल्पना करना, स्मरण करना इत्यादि को फ़िलहाल ब्रैकेट में रख कर हमें विशुद्ध आत्मा की सत्ता को अपना आलोच्य विषय बनाना चाहिए।

मार्टिन हाइडेगर देकार्ते के द्वैतवाद और हसरल की इस विशुद्ध चेतनसत्ता को यह कह कर रद्द कर देते हैं कि मनुष्य को उसके क्रियाकलापों से पृथक नहीं किया जा सकता है। हाइडेगर का तात्पर्य है कि आत्मा शरीररूपी डिब्बे में बंद होने के बजाय शरीर के साथ मिल कर स्वयं को "अभिव्यक्त" करती है। मनुष्य का अस्तित्व न तो भौतिक है, और न ही केवल मानसिक बल्कि शरीर और आत्मा के बीच एक युग्म समझौता है।

यह सत्य है कि मनुष्य अपने परिवेश का चुनाव स्वयं नहीं करता है – वह कहाँ जन्म लेगा, उसके सम्बन्धी कौन होंगे, उसका वंश क्या होगा इत्यादि। यह सब अचानक घटने वाली परिस्थितियां है, जिसमें उसे जन्म लेने के साथ साथ झोंक दिया जाता है। फिर वह अपने अस्तित्व के संघर्ष के लिए निरंतर संभावनाओं को टटोलता है, और अपने अस्तित्व का चुनाव भी स्वयं करता है। जिस तरह किसी नौसिखिये को तालाब में हाथ पैर मारने के लिए यदि छोड़ दिया जाता, तो वह बचने के लिए खुद ही धीरे धीरे तैरना सीखने की कोशिश करता है, और अंततः बच भी जाता है।

मनुष्य यदि चट्टान की तरह सिर्फ शरीर होता तो उसे सोचने की आवश्यकता नहीं थी कि उसे क्या करना है? उदाहरण के लिए हम आफिस जाते समय बस पकड़ने के लिए दौड़ते हैं, क्योंकि सम्भावना है कि हम बस को पकड़ लेंगे और अपने गंतव्य पर समय से पहुँच जायेंगे। लेकिन जब सम्भावनाएँ ख़त्म हो जाती हैं तो हम प्रयास करना भी छोड़ देते हैं, और बसस्टॉप पर ही खड़े रह जाते हैं। अक्सर सुना जाता है कि राजनीति में संभावनाओं के अनंत समीकरण होते हैं, पर सच पूछिये तो जीवन के किसी भी क्षेत्र में अनंत संभावनाएँ मौजूद होती है, उन्हें परत दर परत खोलना पड़ता है। हाइडेगर इसे अनंत क्षितिज की संज्ञा देते हैं, जो हमारे सामने पसरा पड़ा है। साथ ही साथ हाइडेगर यह भी सलाह देते है कि हमें भीड़ की दुनिया से अलग होकर सोचना चाहिए ताकि हम अपने असली वजूद को पहचान सके।

यह एक तथ्य है कि जिस दुनिया में मनुष्य जन्म लेता है, उसे वह अन्य लोगों के साथ साझा करता है। पर 'साझा करने' का अर्थ सह-अस्तित्व बिलकुल नहीं है, यह वैसा ही है जैसे ट्रेन में बैठे यात्री स्थान साझा करते है। हमारा और दुनिया का भी कुछ इसी तरह का सापेक्ष सम्बन्ध है। जैसे ही सह-यात्री अपनी जगह से उठ जाता है, हम उसकी जगह पर पसर जाते हैं। या किसी बच्चे को देख कर थोड़ा खिसक कर उसे बैठा भी लेते हैं। जबरदस्ती यदि कोई जगह दखल करता है, तो झगडा भी कर लेते है, और यह सिलसिला बहुत दूर तक भी जा सकता है। इस तरह ज्यों ज्यों दुनिया हमें बदलने का मौका देती है, त्यों त्यों हम भी दुनिया में बदलाव लाते हैं। यह एकपक्षीय साधना नहीं है। जैसे वैद्युतिक उपकरणों के आने से हमारी जीवनचर्या में काफी परिवर्तन आया है, नदी की पवित्रता अब उसके पानी की बिजली बनाने की क्षमता में बदल गई है, शाम की संगीत या अन्यान्य महफिलें या सभाएं अब मोबाइल और टीवी ने ले ली है, अतिथियों का आना प्राय बंद हो गया है। वस्तुएँ बाईनरी डिजिट में बदलती जा रही है। कर्मचारी कंपनी के डाटा में बदल कर अपना अस्तित्व समाप्त कर चुके हैं।

जो ऐसा दावा करते हैं कि विशुद्ध या निरपेक्ष आत्मा को जानना संभव है, हाइडेगर उसे एक भ्रमजनित उद्वेग की संज्ञा देते है, क्योंकि चेतना सर्वदा

विषय-सापेक्ष होती है। उदाहरण के लिए गाणितिक संख्याएं अमूर्त होने पर भी अपना अस्तित्व प्रतिफलित करने के लिए दुनिया की किसी न किसी मूर्त वस्तु का सहारा लेती है, जैसे चार संतरे, दो कलमें और तीन लिफाफे इत्यादि। यहाँ दो, तीन और चार संख्या का कोई मूल्य नहीं है, यदि उन्हें संतरे, कलम और लिफाफे से जोड़ कर न देखा जाय। मानवीय अस्तित्व भी संबंधों का विचित्र मकड़जाल है।

मैं अपने अस्तित्व का निर्माण समाज के द्वारा निर्धारित पैमाने से करता हूँ – 'मैं गोरा हूँ, मैं भारत का नागरिक हूँ, मैं अमुक का पिता हूँ, अमुक का पति हूँ, मैं विरासत में इतिहास, समाज और राजनैतिक बोझा लेकर जन्मता हूँ, और निरंतर इसका वहन करता चलता हूँ।' इन्हीं के माध्यम से हम अपने अस्तित्व का विकास करते है। आत्मा या 'मैं' कोई विशुद्ध चेतना नहीं है, जो स्वयं को इन परिस्थितियों से अलग करके देख सके। कर्ण के कवच कुंडल की तरह इन्हें दान कर देने के पश्चात् कर्ण का कर्णत्व समाप्त हो जाता है, उसी तरह 'मैं' यदि अपनी परिस्थितियों को तिलांजलि दे दे, तो उसका अस्तित्व शून्य हो जायेगा। उसे अपनी सीमाओं और हदों से निरंतर जूझना है, जिससे वह स्वयं को विकसित कर सके।

साधारणतः हमारी सोच एक चौखटे में बंधी होती है अर्थात एक वैज्ञानिक, एक शिक्षक, एक व्यापारी, एक पुलिसवाला और एक डाक्टर, ये सभी अपने अपने पिंजरे में बंद होकर काम करते हैं या उन्हें करना पड़ता हैं, जो मानव अस्तित्व को घिसी पिटी लकीर पर चलने को बाध्य कर देता है। लेकिन जितना हम इस बंधन के सम्बन्ध में सजग होते हैं, उतना ही हम इससे मुक्त होते जाते है, चौखटे हम पर हावी नहीं हो सकते। हम उन्हें एक ऐसे अनंत प्रतीक्षास्थल में बैठा (waiting to the doorway) सकते हैं, जहाँ से उन्हें अन्दर घुसने की इज़ाज़त ही न मिले।

प्रसंगवश, जेम्स जॉयस के विश्वप्रसिद्ध उपन्यास Ulysses का उल्लेख करना उचित होगा जो सिर्फ एक दिन की घटनाओं का चिंतन प्रवाह है अथवा आंतरिक एकालाप है। जॉयस विचारों की उथल-पुथल को दिखाने की कोशिश करते हैं कि जीवन में एक स्पष्ट और सीधे रास्ते की कोई

संभावना नहीं है। हम लगातार दुर्घटना और संयोग की कृपा के शिकार होते रहते हैं और अपना रास्ता बदलते रहते है।

हाईडेगर इसलिए शरीर को अतिक्रमण करने की बात कहते है। मेरी स्मृतियाँ, मेरे विचार मेरी कल्पनाएँ— मेरे अस्तित्व से कुछ इस तरह जुड़ी है कि 'मेरे' बिना उनका कोई मूल्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए मेरे सामने यह सोफा है, इसमें आने वाले अतिथि बैठते हैं, उसमें जगह होने पर भी मैं वहां न बैठ कर ठीक सामने एक कुर्सी लेकर बैठ जाती हूँ, जिससे मैं उन अतिथियों का चेहरा देख सकूँ एवं बाते करते समय उनके भावों को पढ़ सकूँ। मुझसे कोई पूछे यह वस्तु (सोफे) क्या है तो मेरा जवाव होगा 'यह चौड़ा, लाल रंग का, जिसके पीछे कुशन है, जो थोडा झुका हुआ है, इसका वजन ५० किलो होगा, इसके बैठने की सीट करीब ६० इंच लम्बी है, एक काठ के तख्ते पर रुई की गद्दियाँ बिछी हुई है, इत्यादि इत्यादि। लेकिन यदि मैं हाईडेगर होती तो मैं कहती यह एक अतिथियों के बैठने की जगह है, जहाँ से मैं उनके आमने सामने बैठ कर बात कर सकती हूँ, यदि कोई न हो तो मैं इस पर बैठ कर अपना काम करती हूँ। यदि यह सोफा किसी दूसरे के घर की संपत्ति होता तो मुझे इससे कोई लेना देना नहीं था। हाईडेगर कहना चाहेंगे कि सोफे का अस्तित्व मेरी इस वास्तविकता से जुड़ा है कि मैं यहाँ सहूलियत से बैठ कर अपने को सहज महसूस कर सकूँ। हो सकता है कभी कभी सोफे पर चढ़ कर मैं दीवार पर कलेंडर टांगने की कोशिश करूँ, अथवा उसपर अपनी किताब रख कर दरवाज़ा खोलने चली जाऊँ अथवा रसोई में चाय बनाने चली जाऊँ आदि। सोफे के प्रयोग में छिपी ऐसी अनंत संभावनाओं को नकारा नहीं जा सकता है।

इसी तरह हाईडेगर हथौड़े का दृष्टान्त देकर कहते हैं कि इसकी अनंत सम्भावनाएँ समयानुसार उजागर होती है। दीवार में कील ठोंकने के लिए इसकी आवश्यकता पड़ती है, यदि हम थके हुए है, तो हथौड़ा उठाना हमें भारी लग सकता है। यदि 'हथौड़े की ठोंक' से पाईप टूट जाता है या दीवार टूट जाती है, तो यह पाइप और दीवार की कमजोरी को दिखाता है। यदि यह किसी छोटी कील को ठोंकने में असमर्थ होता है, तो इसके कार्य करने की अक्षमता दीख जाती है, कभी-कभी हाथ के पास कुछ न होने पर तेज़

हवा से बचने के लिए कागजों पर हथौड़ा ही रख देते हैं, जो पेपरवेट का काम करने लगता है, गुस्से में हथौड़े से दूसरों को मारते हुए भी देखा गया है। कहने का तात्पर्य है कि ये सभी संभावनाएँ हथौड़े में है, जो हमें पहले नहीं दिखाई दे रही थी, परिस्थितियां उन्हें क्रमशः खोल कर रख देती है।

यह विश्व जगत भी सिर्फ देखने का विषय नहीं है, किन्तु यह कुछ करने के लिए हमें प्रेरित करता है। हमें मालूम होना चाहिए कि इसे किस चाबी से कैसे खोला जाए, ताकि इसकी अनंत संभावनाओं का ताला खोला जा सके। हाईडेगर अपनी सत्ता को ज्ञाता से कहीं ज्यादा कर्ता के रूप में देखना पसन्द करते हैं। देकार्ते का कथन “I think, therefore I am” हमें भ्रम में डाल कर भयंकर रूप से आत्मा और शरीर को अलग कर देता है।

*"The Soul selects her own Society" (Emily Dickinson)

(अगस्त २५, २०२४)

१५

(“सभी मनुष्य मरणशील हैं” से आत्मा से जुड़े सवालों पर चर्चा आरंभ हुई थी । आज आप जो लेख पढ़ने जा रहे हैं, उसमें आत्मा की पूर्णता (या अपूर्णता?) पर रोचक चर्चा की गई है। आप निश्चिंत होकर ये लेख पढ़ें, आप भी मानने लगेंगे कि फ़िलॉसफी बोरिंग (उबाऊ) तो बिल्कुल नहीं होती।)

आत्मा की अमरता – सम्भावनाओं की गांठों का खुलना

आज मैं कुछ दृष्टान्तों से अपनी बात शुरू करूँगी। शिक्षक ने मेरे लिखे हुए उत्तर को लाल कलम से काट कर कहा, 'इसे दोबारा लिख कर लाओ', ऐसा एक बार नहीं छह से सात बार उन्होंने किया, क्योंकि वे जानते थे कि इससे भी अच्छा लिखा जा सकता है। उत्तर को 'अच्छा' बनाने की कोई सीमा नहीं है, पर सम्भावना है। बाज़ार में पचासों दुकानें जूते की हैं, पर मेरी बहन को अपने नाप के फिट और पसंद लायक जूते कभी मिलते ही नहीं हैं, कुछ न कुछ नुक्स उनमें रह ही जाती है। लेकिन उसकी तलाश जारी रहती है। इस प्रसंग में एक बार की घटना का उल्लेख करना तो अत्यंत हास्यास्पद भी हो सकता है। मुझे एक खास तरह के स्वेटर की तलाश थी जिसके लिए दिल्ली, कलकत्ता और लुधियाना का बाज़ार तो मैंने छान मारा किन्तु मुझे मेरा मन लायक स्वेटर नहीं मिल रहा था। एक बार जब मैं यूरोप घूमने गई थी तो अचानक वेनिस के रेलवे स्टेशन पर वह स्वेटर मुझे दीख गया और मैंने लपक कर उसे १९ यूरो देकर खरीद लिया। कहने का तात्पर्य है हम सबके साथ ऐसी घटनाएँ अक्सर घटती है और हम उसे सनकीपन, पागलपन कह कर हँसी में उड़ा देते हैं, किन्तु हम भूल जाते हैं कि इन्हीं घटनाओं में छिपा है हमारी अपूर्णता का एहसास जो इशारा करता है –'तलाश जारी रखो'। अधूरेपन का एहसास ही सम्पूर्णता के बोध की छटपटाहट में बदल जाता है। सृजनशील व्यक्ति में यह पिपासा आध्यात्मिक पिपासा के रूप में देखी जा सकती है।

"आध्यात्मिक" शब्द का अर्थ ही है "आत्मा से सम्बंधित" अर्थात गहराई तक जाकर स्पष्ट देखना, सामान्य भौतिकता से परे कुछ सोचना। आध्यात्मिकता कोई तथाकथित धर्म की तलाश नहीं है, बल्कि आत्मा में निहित संभावनाओं की तलाश है। मृत्यु के बाद भी जीवन के पुनर्निर्माण की आकांक्षा एक ऐसी यात्रा है, जो हम मंदिर, मस्जिद, या चर्च में नहीं पा सकते हैं, यह केवल हम सबके अंदर ही घटित हो सकती है। अपने

"आंतरिक आयाम" को समझना और उसका विकास करना ही आध्यात्मिकता है। हमारे दैनिक जीवन में भी यह कार्य आध्यात्मिक मुक्ति का साधन हो सकता है। वैज्ञानिक किसी उच्च सत्य की खोज, गायक और संगीतकार किसी अद्भुत सुर के संधान में व्यस्त, चित्रकार रंगों के साम्राज्य में खोये हुए, बावर्ची किसी नए पाक रस की प्रक्रिया में शामिल होकर 'आध्यात्मिक पूर्णता' की इच्छा का साक्षात्कार करते हैं।

जिस तरह एक ही मिट्टी के लोंदे से अनेक तरह के बर्तन बनाये जा सकते हैं, उसी तरह एक ही चेतन स्रोत हर व्यक्ति को उसकी ऊंचाई छूने के लिए प्रेरित कर सकता है, जो उसकी सम्पूर्णता को परिभाषित करता है। आत्मा की अमरता केवल तर्क से सिद्ध करना कठिन काम है। हम इसे पूर्णता की दृष्टि से देखने का प्रयास करें तो शायद अधिक गहराई से इस पर विचार कर सकेंगे। जैसे संख्या का कहीं अंत नहीं होता है, वे कभी पूर्णता के गंतव्य तक नहीं पहुँच सकती हैं, वैसे ही आत्मा की पूर्णता का कोई अंत नहीं है। यह एक ऐसी अनुभूति है जो महसूस की जा सकती है। इस प्यास को धारावाहिक नित्य प्रवाह रूप में देखने का नाम ही अमरता है। अपने अपने कार्यों में पूर्णता प्राप्त करना निःसंदेह एक ऐसा आदर्श है जिसे हम छूना चाहते हैं, पर कभी छू नहीं सकते। Nadia Comaneci के सम्बन्ध में १९७६ के ओलम्पिक जिमनास्टिक में 'the perfect ten' को सबने सुना होगा, लेकिन यह सिर्फ शाब्दिक खेल मात्र है। यह एक स्वप्न है, जो पूरा होता है, पर आगे का रास्ता भी खोल देता है। प्लास्टिक सर्जरी, जीन चिकित्सा, कृत्रिम मेधा इत्यादि के द्वारा विज्ञान पूर्णता की संभावनाओं की तलाश जारी रखता है। ग्रीक दार्शनिक अरस्तू "eudaimonia" शब्द व्यवहार करके मानव संभावनाओं को पूर्ण विकसित करने को ही जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं।

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता है कि मानवीय चेतना एक अपूर्ण सत्ता है, लेकिन हम पूर्णता को पाना चाहते हैं। पूर्णता के बारे में यद्यपि हमें कोई धारणा नहीं है, यह एक क्षैतिक रेखा की तरह सामने लक्ष्य तक पहुँचने का इशारा करती रहती है। आप पियानो बजाना १२ साल से सीख रहे है, लेकिन आपके गुरूजी को संतोष नहीं होता है। वे अधिक से अधिक

पूर्णता चाहते हैं, इसलिए वे कहते है, थोड़ा और ..... थोड़ा और...... ये शब्द कानों में बजते रहेंगे पर आप उस स्तर तक कभी नहीं पहुँच सकते। ऐसा लगता है यह 'थोड़ा और' किसी मरीचिका में तृष्णा मिटाने का सन्धान मात्र है, जो मिटती नहीं है, मिटनी भी नहीं चाहिए। वस्तुतः यदि हम पूर्ण हो जाते तो विवर्तन की यात्रा के साथ दुनिया से सृजनशीलता भी बंद हो जाती। कवि, इतिहासकार वैज्ञानिक, चित्रकार, गायक सभी अपनी अपनी तरह से कुछ-कुछ पूर्णता की तरफ अग्रसर होते रहते हैं, लेकिन मंजिल हमेशा दूर खिसकती जाती है। जैसा कि चित्रकार साल्वाडोर डाली कहते हैं: 'Have no fear of perfection......you'll never reach it।' अपूर्णता हमें निराश ज़रूर करती है, पर हमें सोच भी देती है। Leonardo Da Vinci की चित्रकला के गंभीर अर्थों का सन्धान तथा उन पर गवेषणा इन्हीं अनंत संभावनाओं के बदौलत आज भी जारी है।

सृष्टि के सभी प्राणियों से एकात्म बोध, सृष्टि की विशालता के सामने खुद को नगण्य और क्षुद्र होने का एहसास, केवल स्वजनों के प्रति ही नहीं, बल्कि सभी के लिए प्रेम और कृतज्ञता का एहसास, सभी प्राणी और वस्तुओं के प्रति करुणा का फूटना ही आध्यात्मिकता का लक्षण है।

Tillich, विख्यात रहस्यवादी दार्शनिक, एक शब्द व्यवहार करते है "The Ambiguity of Perfection," जिसका अर्थ है अच्छा-बुरा, सत्य-झूठ, सृजनशीलता-ध्वंस — दोनों शक्तियों का मिश्रण हमारे अन्दर मौजूद है, जो हमें पूर्ण बनाती है। मानवीय गुणों का विकास अपूर्णता में ही होता है। यदि हमने गलती नहीं की होती तो क्षमा मांगने का अर्थ हमें मालूम नहीं होता। यदि हम आलसी न होते तो परिश्रम का अर्थ हम नहीं समझते। अपनी इसी द्विमुखी क्षमता के कारण हम आगे बढ़ते है। विश्व बनाम व्यक्ति एक सुन्दर अपूर्ण रचना है, जो पूर्ण मानवीय होने का सन्देश देती है। (It is the beautifully imperfect art of being perfectly human)। एक अच्छी खासी कहानी का अंत ढीला-ढाला हो जाना, एक सुन्दर चित्रकला का रंग फीका पड़ जाना या एक सुन्दर बंदिश का अंत में बेसुरा हो जाना, हमारी अपूर्णता को दर्शाता है, जो यह जाहिर करता है कि 'हम मनुष्य है देवता नहीं'। यही हमारी सुन्दरता भी है और यही हमारा प्रेरणा स्रोत भी। यदि हम

शब्दकोश खोल कर देखे तो 'पूर्णता" शब्द का विपरीत शब्द मिलता है 'अपूर्ण, दोषपूर्ण, गलत' इत्यादि। हम पूर्णता को लेकर इतने आसक्त हो जाते है कि अपूर्णता हमें अस्वाभाविक लगने लगती है।

Leibnitz अपनी पुस्तक The Art of Discovery में लिखते हैं कि हमें जितना संभव हो अपने तर्क को तेज़ और गणित की तरह बिलकुल पारदर्शी बनाना चाहिए जिससे हमारे अन्दर परस्पर किसी तरह का विवाद न हो —Let us calculate, without further ado, to see who is right. दुर्भाग्यवश यह विवाद एक अनंत यात्रा का विषय है, जो कभी समाप्त नहीं होता है, अर्थात यह सम्भावना भी क्षैतिज ही है।

Kintsugi एक जापानी पद्धति है जो हमें याद दिलाती है कि टूटी चीजों में भी वस्तुतः सौंदर्य है। जब कोई सुन्दर मूर्ति टूट जाती है, तो हम उसके टूटे अंश को पुनः जोड़ कर संतुलित कर लेते हैं । वैज्ञानिक द्रव्य को अणुओं में विभाजित करके उसकी संरचना का विश्लेषण करने में आनंद पाते हैं, दर्ज़ी कपड़े के थान से तरह तरह के वस्त्रादि बनाने में आनंद पाता है, माली फूलों के रस से सुगन्धित इत्र तैयार करने में अपनी मौलिकता खोजता है, उसी तरह मनुष्य भी अपने अस्तित्व की पूर्णता की तलाश करता है अस्तित्व की अमरता में।

अमेरिकन साइंस-फिक्शन फिल्म "The Adjustment Bureau," में एक राजनीतिज्ञ जब एक बैले नर्तकी के प्रेम में पड़ जाता हैं, तो उसके राजनीतिक सलाहकार उसे ऐसा करने से रोकते हैं, क्योंकि उसका राजनीतिक भविष्य खतरे में पड़ जायेगा। लेकिन अंत में वह अपनी पूर्णता बैलेरिना के साथ सच्चे प्रेम को निबाहने में पाता है और राजनीति को अलविदा कह देता है। इसी तरह एक अन्य फिल्म Limitless में Bradley Cooper एक ऐसे असफल लेखक का किरदार निभाता है, जो एक जादू की गोली खाकर अपनी समस्त संभावनाओं को विकसित करने में सफल होता है और द्रुत गति से उपन्यास लिखने में पूर्णता हासिल करता है।

जीवन की प्रत्येक क्रिया में सुन्दरता को सहजता से स्वीकार करना ही पूर्णता का प्रथम पदक्षेप है। हमारे यहाँ नव्य नैयायिको ने एक ऐसी पूर्ण

भाषा बनाने की कोशिश की थी जिसमें ज़रा भी अस्पष्टता और दुर्बोध्यता न हो। लेकिन उनका यह प्रयत्न कुछ हद तक ही रहा, क्योंकि यदि सब कुछ साफ साफ कह दिया जाय तो अनंत संभावनाओं और सृजनशीलता के सभी रास्ते समाप्त हो जायेंगे। हम भूल जाते हैं कि भाषा की अपूर्णता ही भाषा की सबसे बड़ी पूर्णता है।

बात शुरू हुई आत्मा की अमरता बनाम पूर्णता से। आत्मा का नित्यत्व, अविनाशित्व हमें यदि स्वीकार नहीं होगा तो इस पूर्णता की यात्रा के पथिक हम कैसे बन सकते हैं। अंत में 'चरैवेति चरैवेति'....... चलते रहें चलते रहें........पूर्णता बनाम अमरता के खेल में।

(सितम्बर १४, २०२४)

१६

यथा तृणजलूकेयं प्रपद्येत परं पदम्।
पूर्वं त्यक्त्वा जवाज्जीवः कर्मभिः स्वैः प्रपद्यते॥

(जिस प्रकार एक 'तृणजलूका' या जोंक अगले तिनके को पकड़ लेने के बाद ही पिछले तिनके को छोड़ती है, उसी प्रकार यह जीव अपने कर्मों के अनुसार अगले शरीर का आश्रय मिल जाने पर ही पुराने शरीर का त्याग करता है।)

पुनर्जन्म : स्वयं की वापसी या निराधार भ्रम

मानव मन को उलझाने वाले प्रश्नों में से सबसे अधिक पूछा जाने वाला प्रश्न है मृत्यु के बाद क्या होता है? साधारण व्यक्ति से लेकर विज्ञान और दर्शन भी इस प्रश्न से अछूते नहीं रहते हैं – क्या मृत्यु के बाद मनुष्य का अस्तित्व सम्पूर्ण रूप से मिट जाता है? क्या केवल शरीर ही मृत्यु का शिकार होता है अथवा आत्मा भी इसका शिकार होती है?

पुनर्जन्म एक ऐसा बीज सिद्धांत है, जो आत्मा की अमरता से जुड़ा है। भारतीय सिद्धांत के अनुसार चौरासी लाख योनियों में जीव जन्म लेता है और अपने कर्मों को भोगता है। शरीर की मृत्यु भले ही हो जाए पर इसे जीवात्मा का अंत नहीं कहा जा सकता है। उधर जीवविज्ञानी हमें बतलाते हैं कि हमारे शरीर में कोशिकाओं का जीवन काल सीमित होता है। जैसे जैसे हमारी उम्र बढ़ती है, हमारी शारीरिक कोशिकाएँ नियमित रूप से बदलती रहती हैं, हालाँकि, हमारी चेतना – 'हम कौन हैं' अपरिवर्तित रहती है। हमारी पसंद-नापसंद और सोच में बदलाव आ जाता है, पर हम जानते हैं कि हमारे शरीर में परिवर्तन होते रहने के बावजूद हमारा व्यक्तिगत "अस्तित्व" वही है, जो कल था या पिछले वर्ष था और या दशकों पूर्व था। इस तरह "मैं" समय के साथ बदलते हुए कई शरीरों से होकर गुजरता है, तो क्या यह संभव नहीं है कि तथाकथित मृत्यु के बाद भी जीवात्मा अपना जीवन क्रम जारी रखती हो?

बौद्ध दर्शन नित्य स्थायी आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न करके इसे एक "चेतन धारा" के रूप में स्वीकार करता है, जो अतीत से उतनी ही जुड़ी रहती है जितनी भविष्य से। जिस तरह बुझती हुई मोमबत्ती की लौ दूसरी मोमबत्ती की लौ को जलाने का काम करती है, उसी तरह आत्मा की चैतन्य धारा अतीत से वर्तमान और भविष्य की जीवन शिखा प्रज्वलित करती चलती है। चेतना एक कारण-कार्य की श्रृंखला से निरंतर से बंधी रहती है।

जिस तरह James Joyce के उपन्यास Ulysses में हम देखते हैं कि इसके पात्र जीवन की एक दिन की घटनाओं के चिंतन प्रवाह के आंतरिक एकालाप में मस्त रहते है, उसी तरह सारी जिंदगी का एकालाप और उससे भी आगे जाएँ तो भविष्य का एकालाप .... पुनर्जन्म की एक तर्कसंगत व्याख्या देने में सक्षम हो सकता है।

जैविक मृत्यु के बाद आत्मा पिछले जीवन के कर्मों की नैतिक गुणवत्ता के आधार पर नया शरीर वस्त्रों की तरह ग्रहण करता है, और पुराने वस्त्रों को त्याग देता है। ऐसा क्यों होता है? इस प्रश्न का साधारण उत्तर यही हो सकता है कि जिस वस्तु के प्रति हमारा लगाव जितना ज्यादा होता है उसे हम उतनी ही तीव्र गति से पाने की कोशिश भी करते हैं, फलस्वरूप उसे प्राप्त भी कर लेते हैं, बशर्ते हमारी चेष्टा में ईमानदारी शत प्रतिशत हो। संगीत के प्रवाद प्रतीम उस्ताद अल्लाउद्दीन खान साहब अपनी १० साल की छोटी उम्र से संगीत की शिक्षा पाने के लिए गुरु की खोज में घूमते रहे और तकलीफों संघर्षों से जूझते हुए अंत में शिखर में पहुँचने में सफल हुए। ऐसी असंख्य घटनायें सुनने में आती है जब छोटी उम्र में घर से भाग कर व्यक्ति अपने सपनों को साकार करने में सफल होता है। मैं सोचती हूँ उन्हें ऐसी प्रेरणा कहाँ से मिलती है ?

दार्शनिक श्री अरविन्द के अनुसार पुनर्जन्म मनुष्य को विकास का अवसर देता है, हम अपनी आकांक्षाओं को उच्चतम शिखर की पूर्णता तक पहुंचा सकते हैं । एक आत्मा अनगिनत वर्षों के लिए एक जीवन से दूसरे जीवन में स्थानांतरित होती रहती है, जब तक वह अपने अर्जित कर्मों का आवश्यक फल नहीं पा लेती है। कई बार हमारे सामने ऐसी ऐसी घटनाएँ घटती हैं, जो होती तो पहली बार है, लेकिन हमें महसूस होता है कि इस तरह की परिस्थिति से हम पहले भी गुजर चुके हैं। चिकित्सा विज्ञान इसे अवचेतन मन की यात्रा मानता है, ऐसी स्मृतियां जो पूर्व जन्मों से जुड़ी होती हैं। पूर्व जन्म में विश्वास न करने वाले नास्तिक भी इसे नकार नहीं सकते कि एक ही प्रकार की शिक्षा पाने वाले दो व्यक्ति बिलकुल भिन्न भिन्न होते हैं। पारिवारिक संस्कार पहलवानों के होने के वाबजूद पंडित हरिप्रसाद चौरसिया जी विख्यात बांसुरी वादक बने। कहने का तात्पर्य है कुछ गुण

मनुष्य में पूर्व जन्म के संस्कारों से गृहीत होते हैं जिनकी हम उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। पुनरागमन को प्रमाणित करने वाले प्रमाणों में सबसे बड़ा प्रमाण ऊर्जा संरक्षण का सिद्धांत है, जिसके अनुसार ऊर्जा का किसी भी अवस्था में विनाश नहीं होता है, मात्र ऊर्जा का रूप परिवर्तन हो सकता है। अर्थात् जिस प्रकार ऊर्जा नष्ट नहीं होती, वैसे ही चेतना का नाश भी नहीं हो सकता। चेतना को वैज्ञानिक शब्दावली में ऊर्जा की शुद्धतम अवस्था कहा जा सकता हैं। चेतना का मात्र एक शरीर से निकल कर नए शरीर में प्रवेश करना ही पुनर्जन्म है। पूर्वभव के संस्कारों के बिना विश्व विख्यात संगीत रचनाकार Mozart के लिए मात्र चार वर्ष की अवस्था में संगीत कम्पोज करना संभव नहीं होता।

भर्तृहरि इसी तरह सवाल करते हैं मछलियों को तैरना कौन सिखाता हैं? पक्षियों को घोंसला बनाना कौन सिखाता है? कोयल को पंचम स्वर में तान छेड़ना कैसे आया? इस तरह की तमाम घटनाएँ हमें विवश करती हैं यह सोचने के लिए कि प्राणी पूर्वजन्म के संस्कार लेकर आता है। हालाँकि, ये सभी वृत्तियाँ सहजात कही जाती है, जिनके लिए शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती है। मनुष्य की भी सहजात वृत्तियाँ, भय, क्रोध, प्रेम, इत्यादि है, जिन्हें सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

इस सन्दर्भ में विख्यात मनोवैज्ञानिक कार्ल जुंग (Carl Jung) का उल्लेख करना भी प्रासंगिक है। उनके अनुसार शारीरिक संरचना में जो काम सहजात वृत्तियाँ करती है, चेतन जगत में वही काम सामूहिक अवचेतना (collective unconscious) करती है, जो सभी मनुष्यों में आदिम वासनाओं (archetypes) के रूप में विद्यमान रहती हैं। इस तरह समाज और संस्कृति के अनुसार उनके रूप बदल जाते है, पर मूल धारणा अवचेतन मस्तिष्क में एक ही आकार में बनी रहती है। यह वासनाएँ ही हमारे व्यक्तित्व का निर्माण करती है। उदाहरण के लिए माँ की धारणा एक बुनियादी धारणा है, जो सभी प्राणी जगत के बच्चों में पाई जाती है, किन्तु परिस्थिति के अनुसार अभिव्यक्ति भिन्न भिन्न हो सकती है। इसी तरह क्रोध सबके अन्दर होता है जिसे हम मौका मिलने पर प्रकट करते हैं। जब तक वह प्रकट नहीं होता है, हम इस भ्रम में रहते है, 'मुझे गुस्सा नहीं आता है,'

पर परिस्थितियां इन्हें प्रमाणित करने में सहायक हो जाती है। आप शांत मन से घर से आफिस के लिए निकलते है, पर वाहनों के जाल में फंस जाते है, बॉस की धमकी खाने के डर से क्रोध से भभक उठते हैं । यद्यपि इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता है कि हम इससे ऊर्ध्व भी सोच सकते हैं इसके स्वरूप को बदल कर 'क्रोध' अन्याय के विरुद्ध, 'प्रेम' प्राणी जगत के असहाय लोगों के प्रति, 'डर' दुर्नीति और दुराचार से इत्यादि के विरुद्ध कर उसकी निकासी का मार्ग बदल सकते हैं ।

कार्ल जुंग कहते हैं कि हम विश्वास करते हैं कि 'मैंने यह सृष्टि की है पर वास्तव में हमारे अन्दर छिपी वासनाओं के बीज हमसे ऐसा करवाते हैं।' आदिम धारणाएं बहुत है जो मनुष्य को सृजनशीलता की ओर, साहित्य, फिल्म, संगीत आदि की तरफ भी ले जा सकती है अथवा खून, हत्या, चोरी इत्यादि जघन्य कार्यों की तरफ भी ठेल सकती है। कलासृजन का उत्कृष्ट उदाहरण कार्ल जुंग के शब्दों में – "It is not Goethe who creates Faust, but Faust which creates Goethe."

बौद्ध दर्शन में इन आदिम धारणाओं को आलय विज्ञान की संज्ञा दी गई है, जो संस्कार रूपी बीज को संगृहीत रखती है और इंधन मिलने पर भड़क उठती है। मुझे याद है, जब मैंने शिवाजी सामंत का उपन्यास 'मृत्युंजय' पढ़ा था, तो मेरा रो रो कर बुरा हाल हो गया था। करुणा से द्रवित होकर यही हाल हुआ था जब महाभारत युद्ध में अभिमन्यु का वध देखा था। यदि यह करुणा भीतर न होती तो कुछ पन्ने पढ़ कर या देख कर वह फूट फूट कर नहीं निकलती। कहने का तात्पर्य है कि वासनाएं प्राणी मात्र में रहती है, पर उनका निर्गम परिस्थितियों पर निर्भर करता है।

वासना का मतलब ही वह भाव है, जो अन्दर दबा पड़ा है। जैसे पानी जम कर बर्फ बन जाता है और अनुकूल समय आने पर यानी ताप मिलने पर पिघलने लगता है, उसी तरह संस्कार जम कर बर्फ की तरह हमारे दिमाग में छिपे रहते है, समय आने पर वह अनुकूल आचरण में बदल जाते हैं। संस्कार पदचिह्नों की तरह होते हैं, जिनके निशानों के छाप हमारे मन मस्तिष्क की गुप्त कंदराओं में बसे रहते हैं। किसी एक कहानी का प्रसंग मुझे याद आ रहा है कि विद्रोही पुत्र पिता से आजीवन संघर्ष करता रहा,

किन्तु उनकी मृत्यु के बाद वह स्वयं पिता के जूते पहनने लगा, यानी उनकी तरह आचरण करने लगा। चेतना के समुद्र में ये वासनाएँ शक्तिशाली लेन्स की तरह होती है, जो धुंधली आँखों से नहीं देखा जा सकता, धुंध छटने पर वे ही हमें दृष्टि प्रदान करती है। हमारी भूमि जैसी होगी हमारी फसल भी वैसी ही होगी।

अंत में चर्चा को विश्राम देने के लिए इतना ही कहा जा सकता है कि पुनर्जन्म की धारणा के सम्बन्ध में कोई गतिरोध दिखाई नहीं पड़ रहा है। पुनर्जन्म वास्तव में तर्क का नहीं अनुभूति का विषय है। आनंद कुमार स्वामी के अनुसार जिस तरह एक बिलियर्ड बाल दूसरी बाल को धक्का देकर स्वतः स्थिर हो जाती है, और रुकी हुई बाल चलना शुरू कर देती है, ठीक उसी तरह जीवन की अंतिम चेतना का बिंदु एक नई चेतना को उद्बुद्ध करके बुझ जाती है, लेकिन चेतना का प्रवाह चलता रहता है। कवि अनुज लुगुन के शब्दों में—

लेकिन हम जीवित रहते हैं आने वाली पीढ़ियों में

हज़ार-हज़ार शताब्दियों से भी आगे
फसलों में, गीतों में, पत्थरों में
मृत्यु के बाद भी हम
अपनी धरती से दूर नहीं होते।

(सितम्बर २२, २०२४)

१७

(यह एक सामान्य धारणा है कि शब्द से अर्थ का बोध होता है किंतु सभी शब्दों से सभी अर्थों का बोध नहीं होता अपितु किसी निश्चित शब्द से किसी निश्चित अर्थ का ही बोध होता है। फिर निश्चयता कितनी है, यह प्रश्न बराबर हमें कुरेदता रहता है। 'दर्द महसूस करना' और किसी 'अन्य के दर्द को समझना' बिलकुल पृथक होकर भी पृथक नहीं होते है। चिकित्सक समझता है दांत के दर्द और पेट के दर्द में क्या फर्क है, महसूस नहीं कर सकता है।)

आकाशगंगा में चमकता दूसरा सितारा - यह 'अन्य' कौन?

"क्या आप अपने बच्चे को जानते हैं"?

"जी हाँ, बिलकुल, पढने में अच्छा है, फुटबॉल खेलता है, शांत है और कम बोलता है." माँ का जवाब था।

"तो जाइये, देखिये वह क्या कर रहा है।" (थोड़ी देर सन्नाटा)

"अरे, तू यह क्या कर रहा है, बेटा...ड्रग...सिगरेट"

इस फ़िल्मी वार्तालाप ने माँ का दावा कितना सतही साबित कर दिया कि 'मैं उसे जानती हूँ'। यह 'दूसरा' कौन है, जो मुझसे अलग है, जिसे मैं जानती हूँ, पर नहीं भी जानती हूँ। जिसे मैं लाल रंग समझती थी, वह हरा रंग निकला (inverted spectrum)।

इस सम्भावना से इंकार नहीं किया जा सकता कि हम अपनी चेतना को जितनी आसानी और सहजता से जान सकते हैं, 'दूसरे की चेतना या मन' को शायद उतनी आसानी से नहीं जान सकते। उदाहरण के लिए जब मेरे दांत में दर्द होता है तो मैं कहती हूँ कि 'मेरे दांत में दर्द हैं' पर वही बात जब कोई दोस्त अपने दांत दर्द के सम्बन्ध में कहता है, तो मैं समझ जाती हूँ कि उसका दर्द भी मेरी ही तरह का है, पर उसके दर्द को मैं महसूस नहीं कर सकती हूँ। मेरा शंकित होना स्वाभाविक है, क्या वास्तव में उसके दांत में दर्द हैं? क्या मैं 'उसके मन' को जान सकती हूँ? यह 'अन्य या दूसरे का मन' क्या है? मेरा कथन उत्तम पुरुष वर्तमान काल में है, जबकि दूसरे के लिए मैं तृतीय पुरुष का प्रयोग करती हूँ, 'उसके दांत में दर्द है'। (हाँ, अवचेतन मन में क्या होता है, या वह क्या होता है, इसके बारे में फिर कभी जानेंगे) ।

दूसरे के मन को अमूमन उसके व्यवहार से जान सकते हैं। जैसे मैं शतरंज खेलने के समय कौन सी चाल कैसे चलूँगी आदि के बारे में सोचती हूँ, शह-मात देने पर आह्लादित होती हूँ, वैसे ही 'दूसरा' भी आह्लादित होता है।

इससे सिद्ध होता है कि उसका मन भी मेरी ही तरह काम करता है। फर्क यह है कि मैं अपनी चेतना को अपने व्यवहार से जोड़ कर देखती हूँ, लेकिन दूसरे का व्यवहार देख कर उसकी चेतना और सुख-दुःख आदि के बारे में अनुमान करती हूँ। लेकिन यह प्रमाण कई बार हमें धोखे में भी डाल देता है। मेरा बच्चा रो रो कर कहता है 'मैं स्कूल नहीं जाऊंगा मेरे पेट में दर्द है', मैं शुरू शुरू में विश्वास कर लेती थी पर कुछ दिन बाद पता चला वह तो स्कूल न जाने का बहाना बनाता है। अब मैं कैसे समझूँ कि व्यवहार (रोना) और उसकी सोच (पेट में दर्द होना) एक ही है? फिर तो कहना पड़ेगा कि हम सभी अपने अपने चेतना के द्वीपों में बंद रहते हैं और अंततः हम solipsism (अहंवाद) के शिकार हो जाते हैं, जिसका अर्थ है "मैं और मेरी चेतना" के अलावा ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे मैं जान सकूँ।

कृत्रिम मशीन कहें या A philosophical zombie ऐसा यंत्र है, जो साधारण व्यक्ति की तरह व्यवहार करता है, किन्तु पिन चुभोने पर उसे कोई दर्द की अनुभूति नहीं होती है। वह फूलों की सुगंध को पहचान सकता है, फूलों की सुगंध कचरे की दुर्गन्धि से अलग कर सकता है, वह सामान्य व्यक्ति की तरह सवालों का जवाब भी देता है, तो क्या हम मान ले कि उसके भी अन्दर मनुष्यों की तरह ही मन है! पर हम जानते हैं कि उसके अन्दर 'मन' नाम की कोई चेतन सत्ता नहीं होती है। उसके अन्दर इलेक्ट्रिक तारों और कुछ सॉफ्टवेयर इत्यादि का जाल बिछा है, पर 'मन' के नाम पर वह भारी पत्थर है। उसका आचरण, भाषा, क्रिया आदि हमें भ्रम में डाल देता है। इससे यह आशंका उत्पन्न होती है कि जिन्हें हम मनुष्य समझते हैं, वे भी हमारे जैसा ही व्यवहार करते हैं, पर वास्तव में वे मस्तिष्कशून्य हैं! न्यूरो वैज्ञानिक विश्वास दिलाते हैं कि 'अन्य व्यक्तियों के मन" को जानने का उपाय है उनके मस्तिष्क के अन्दर लाखों लाखों कोशिकाओं को कार्य करते हुए देखना, जिस तरह मेरी कोशिकाएँ कार्य करती हैं उसी तरह दूसरों की भी कोशिकाएँ कार्य करती है।

फिर भी एक व्यवधान तो रह ही जाता है कि दूसरे के दर्द की अनुभूति मुझे वैसी नही होती है जैसी अपने दर्द की होती है। अपनी भावनाओं को हम साक्षात् रूप से देख सकते है, जबकि दूसरों के व्यवहार से अनुमान करते

हैं कि उसे सुख या दुःख की अनुभूति हो रही है। **'दर्द को महसूस करना' और 'दर्द को समझना' दोनों में फर्क हैं।** साधारणतः मन, जो एक अमूर्त सत्ता है, सुख दुःख, चिंता, कल्पना, विचार, भावना इत्यादि की समष्टि कहा जाता है, जिसे देखा नहीं जा सकता है, पर उसकी अभिव्यक्ति या व्यवहार हम देख सकते हैं।

कुछ लोगों के अनुसार 'मन' कोई अमूर्त धारणा नहीं है। यह एक **भाषाई व्यवहार** है। जब हम 'दर्द' शब्द प्रयोग करते है तो वह हमें सूचना देता है कि हमारे भीतर क्या घट रहा है ! शब्द अर्थ तक नहीं पहुंचाते हैं उलटे अर्थ (दर्द) हमें शब्द व्यवहार करने की प्रेरणा देते हैं। भाषा सामाजिक व्यवहार का तरीका है जो बतलाती है कि 'मुझे दर्द है' और मैं कराहने लगती हूँ। हम भाषा के माध्यम से दर्द का अनुभव नहीं करते है बल्कि हथौड़ा मारने पर जो दर्द होता है और उससे चीख निकलती है — 'आउच' **एक भाषाई चिह्न** है, जो दर्शाता है कि मुझे दर्द हो रहा है। किसी की लाल आँखे, चीख चीख कर बोलना या हाथ पैर मारना आदि हावभाव देख कर हम अनुमान करते है, 'वह गुस्से में है'। पर समस्या है कि दूसरा यदि गुस्से का अभिनय कर रहा है तो कैसे प्रमाण किया जाय कि वह सचमुच गुस्से में है? दूसरों के भी मेरे जैसा ही मन है, इसे कैसे प्रमाणित किया जाय? दार्शनिक Ludwig Wittgenstein का मानना है यह कोई अनुमान नहीं हैं बल्कि **गुस्सा =व्यवहार =भाषा** — इन तीनों का समीकरण है। इसी तरह यदि हम किसी ऐसे मेधावी रोबोट को तैयार कर सके जिसे सुख दुःख का अनुभव होता है, तो प्रमाण किया जा सकेगा कि उसके अन्दर भी चेतना है। इसके बावजूद दूसरों के व्यवहार और चेतना के बीच एक खाई रह जाती है जिसे लांघना मुश्किल है। अपने दर्द को मैं अनुभव कर सकती हूँ पर दूसरे के दर्द को अनुमान करने में भूल होने की सम्भावना रह जाती है. दर्द का एहसास होना सिर्फ एक **भाषाई** प्रयोग नहीं है। 'महसूसना' एकदम निजी घटना है, जो साझा नहीं की जा सकती।

धर्मकीर्ति, जो एक भाववादी बौद्ध दार्शनिक है, के अनुसार ऊपर जिस solipsism (अहंवाद) का जिक्र किया गया है, वह **पारमार्थिक जगत** की अनिवार्यता है, क्योंकि वहां पहुँच कर व्यक्ति अकेला हो जाता है, उसकी

भाषा व्यक्तिगत हो जाती है, जिसे वह साझा नहीं कर सकता है। लेकिन व्यवहारिक जगत में हम दूसरों की उपस्थिति मान कर संवाद स्थापित करते हैं। भाषा और व्यवहार के माध्यम से 'दूसरे के मन' का अनुमान करना **व्यावहारिक जगत** की अनिवार्यता है।

जब तक हम 'दूसरे के मन' को जानने का दावा नहीं करेंगे तब तक दूसरे के प्रति दया, सहानभूति, प्रेम इत्यादि, दिखाना बेईमानी हो जायेगा। सहानभूति के कारण ही हम परस्पर प्रतिबद्ध होते हैं, 'दूसरे' के बारे में सोचते भी हैं और हमें उनकी जरूरत का एहसास भी होता है। बच्चे का रोना सुनकर माँ समझ जाती है बच्चा क्या चाहता है, वह अनुमान नहीं करती है। अभिनेता दूसरे की शारीरिक मुद्राओं का अनुकरण करने के साथ साथ उनके भावों का भी अनुकरण करता है। जब हम किसी व्यक्ति के व्यवहार को देख कर कहते हैं, 'अरे! उसने ऐसा क्यों किया, उससे यह उम्मीद नहीं थी' तो हम यह मान कर चलते हैं कि उसकी मानसिक सत्ता है। यदि किसी प्रेमी या प्रेमिका ने एक दूसरे को धोखा दिया है, तो दूसरे को निराशा क्यों होती है या गुस्से से क्यों तमतमा उठता है? इसका कारण है कि वह विश्वास करता है कि दूसरा वास्तव में है। दूसरे की सत्ता को जानने का उपाय यदि अनुमान होता तो हमें एक लम्बी प्रक्रिया से गुजरना पड़ता जो सामान्यतया असंभव प्रक्रिया है। यह तो वैसा ही होता जैसा कि किसी आत्मीय व्यक्ति को अचानक कहीं देख कर पहले प्रमाण इकठ्ठा करें फिर उससे बातचीत करने के लिए आगे बढ़ें। साधारण जीवन में हम सहज और सरल भाव से व्यक्ति सत्ता पर विश्वास करते है। फ़िलहाल हमारी समस्या अभी भी अनुत्तरित ही है।

Martin Buber दो तरह से इस समस्या पर विचार करते हैं। पहला, '**मैं-वह'** जिसमें हम दूसरे को वस्तु रूप में देखते हैं। उदाहरण के लिए दूध, किताब, कुर्सी, बैंक का कर्मचारी आदि **शब्दों का व्यवहार** करते हैं। इनसे हमारा दूर का रिश्ता है, क्योंकि ये सब विषय है। लेकिन जब हम **मैं-तुम** का सम्बन्ध बनाते हैं तो इसमें सहृदयता, सद्भाव तथा मैत्री सम्बन्ध की आत्मीयता देखी जाती है।

हमारा दैनन्दिन जीवन इन्हीं सम्बन्धों पर टिका है और इसी से अर्थपूर्ण भी बनता है। दृष्टान्त स्वरूप हम किसी वृक्ष को सौंदर्य की दृष्टि से देख सकते है, उसको उसकी जैविक प्रक्रिया के रूप में देख सकते है, उसकी जाति के अनुसार किसी वृक्ष श्रेणी के अंतर्भुक्त करके देख सकते हैं इत्यादि। वृक्ष हमारे लिए विषय बन जाता हैं। पर सुन्दरलाल बहुगुणाजी ने जब 'वृक्ष बचाओं आन्दोलन' के लिये अनशन किया तो उनका सम्बन्ध वृक्ष से **मैं-तुम** का था, वे उसके साथ आत्मीय सम्बन्ध में थे। प्रेम का सम्बन्ध भी कुछ ऐसा ही हैं। दूसरे चेतन प्राणी की मानसिक सत्ता को यदि हम स्वीकार नहीं करेंगे तो नीति, कानून, समाज सब बेकार साबित हो जाएँगे। कोई भी सामान्य मनुष्य किसी दूसरे व्यक्ति की मानसिक सत्ता को नकार नहीं सकता है। क्या पड़ोसी से झगडा करते हुए हम सोचते हैं कि यह एक मशीन है? खेल के मैदान में खिलाड़ी के खेल की समालोचना या प्रशंसा करने वाले हम **दूसरे** ही होते हैं । यह **द्वैत-भाव** हमारे अस्तित्व का महत्वपूर्ण हिस्सा है।

समस्या यह नहीं हैं कि हम क्यों विश्वास करते हैं कि दूसरा व्यक्ति भी मेरी ही तरह अनुभव करता हैं? सवाल यह है कि '**उसका होना ही हमारे विश्वास का आधार है'।** सवाल यह भी नहीं है कि दूसरे का मन है कि नहीं, सवाल है कि हम उसे कैसे जानते हैं?

(अक्टूबर ०४, २०२४)

१८

आत्मनो मुखदोषेण बध्यन्ते शुकसारिकाः।
बकास्तत्र न बध्यन्ते मौनं सर्वार्थसाधनम्॥

(तोता और मैना अपनी मधुर वाणी के कारण पिंजरे में बांध लिए जाते हैं, लेकिन बगुले अपनी शांति और मौन के कारण कहीं नहीं फंसते। मौन से सभी मनोरथ सिद्ध होते हैं।)

जब बोलने की अपेक्षा न बोलना महत्वपूर्ण हो जाता है

(सन्दर्भ, स्वरों का उतार-चढ़ाव, तात्पर्य, सामाजिक आचरण, शब्दकोश आदि से प्राथमिक शिक्षण के बाद हम भाषा का बहुआयामी प्रयोग और अर्थ निर्धारण करना सीख जाते हैं। यूँ तो प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश के अनुसार 'सर्वे सर्वार्थ वाचकाः' सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक हो सकते हैं, पर हम इच्छारूपी संकेत के द्वारा उनका अर्थ नियंत्रित कर देते हैं, जिसे बाद में समाज की स्वीकृति भी प्राप्त हो जाती है। लेकिन अर्थ नियंत्रित कहाँ रह पाते हैं, वे तेज रफ़्तार से दौड़ते हैं और समस्यायें खड़ी कर देते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि **कई बार बोलने की अपेक्षा न बोलना महत्वपूर्ण हो जाता है।)**

माँ ने कहा 'देखो, फ्रिज में सब कुछ रखा है, जो मर्जी हो निकाल लो।' यहाँ 'सब' शब्द अस्पष्ट है? क्या दुनिया भर की सभी खाने योग्य वस्तुएं फ्रिज में रखी है? मैंने एक छात्र से कहा "मेरे दिमाग में तुम्हारा प्रश्न है, मैं सोच कर उत्तर दूँगी।" यहाँ 'दिमाग में हैं' इस कथन का क्या अर्थ है ? दिमाग क्या एक सन्दूक है, जहाँ मैंने उसके प्रश्न को हिफाज़त से रख दिया हैं? माँ ने कहा, 'छाता लेकर जाना, बरसात हो रही है'। मैंने बाहर झांक कर देखा और कहा, 'नहीं, बरसात नहीं हो रही है। किन्तु माँ का वाक्य 'बरसात हो रही है' सत्य है, क्योंकि दुनिया में कहीं न कहीं तो बरसात हो रही है। इस तरह अनगिनत वाक्य हैं जिनका अर्थ बोध कभी कभी हमें मुश्किल में डाल देता है। हम कई बार धोखा खा जाते हैं कि जो कहा गया है क्या वही समझा गया है? वक्ता और श्रोता का सम्बन्ध तो इसी अर्थबोध पर निर्भर करता है। लेकिन प्रश्न है कि वक्ता के विचार को पकड़ने में भाषा कहाँ तक सक्षम होती है? भाषा का यह तथाकथित धुंध कैसे हटाया जाय?

कानूनी अदालतों और सभाओं में हम देखते हैं कि पक्ष और विपक्ष के वकील वर्षो तक एक घटना को लेकर तर्क वितर्क करते रहते हैं। किसी

केस की गुत्थी सुलझाने के लिए वे भाषा के ऐसे ऐसे दांव-पेंच लगाते हैं कि सत्य अक्सर तुड़-मुड़ जाता है। सच कभी सामने आता है और कभी नहीं भी। कहावत है विजित और विजेता का इतिहास अलग अलग लिखा जाता है, क्योंकि उनके सन्दर्भ और भाषाएँ अलग अलग होती है। इतिहास की व्याख्याएँ भी पूर्वग्रह संस्कारों के कारण पृथक पृथक होने लगती है। कोई व्यक्ति ब्रिटिश की नज़रों में यदि देशद्रोही होता था तो देश की नज़रों में वह देशभक्त माना जाता था। इस तरह शब्दों का यदि कोई निश्चित अर्थ न हो तो सत्य विकृत हो जाता है, पाठक और श्रोता गुमराह होने लगते हैं।

कुछ आधुनिक भाषा-दार्शनिकों का मानना है कि शब्दों का कोई निश्चित अर्थ नहीं होता हैं, हम प्रकरणानुसार अर्थ बोध करने में सक्षम होते हैं। वक्ता जब चिल्ला कर कहता है 'पानी !' उसके इस शब्द उच्चारण का क्या उद्देश्य है —आदेश? किसी प्रश्न का उत्तर? या प्यास लगी है, पानी' मांग रहा है या दरवाज़ा बंद करो पानी भीतर आ रहा है इत्यादि। प्रकरण तो अनंत है, अतः **अर्थबोध की प्रामाणिकता** संदिग्ध हो जाती है।

जैसे '**काँटा**' शब्द सुनने पर मस्तिष्क में सर्वप्रथम एक पतली नोंक वाली वस्तु का ही बिंब उभरता है, जो चुभता है, पीड़ादायक होता है, बालों में लगाने के काम आता है। इसके अलावा इसका तात्पर्य तराजू से भी होता है जो तौलने के काम आता है। यहाँ तक की अब एक **शनि काँटा** शब्द भी व्यवहार में रूढ़ हो चुका है। इस तरह शब्द अपने मुख्यार्थ को छोड़ कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त होने का अधिकार अर्जन कर लेता है जो कल्पना-लेखन के क्षेत्र में बहुधा उपयोगी होता है। पर तथ्यात्मक विषयों में, जहाँ सत्य का बोलबाला अधिक होता है, इतनी अर्थ स्वाधीनता मान्य नहीं है।

हमें स्मरण रखना चाहिए कि भाषा-वैज्ञानिक कुछ हद तक अर्थबोध में सहायक हो सकते हैं, पर भाषा विज्ञान का सम्बन्ध अधिकतर भाषा की व्याकरणिक उत्पत्ति और उनके सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जुड़ी रहती है, जबकि भाषा-दर्शन **अर्थ** की **सत्यता** की परख करता है। कहा जा सकता है कि भाषा-दर्शन अर्थ का मूल्यायन करता है, और भाषाविज्ञान अर्थ प्रयोग का वर्णनात्मक स्वरूप उपस्थित करता है। सामान्य रूप से भाषा-दार्शनिकों के लिए भाषाविज्ञान से प्राप्त भाषा कच्चा माल या उपादान है,

जिसका विश्लेषण करना उनका काम है। जैसे बाज़ार से सब्जी खरीद के लाना कच्चा माल है, पकाना रसोइये का काम है। इसी तरह भाषा को साफ-सुथरा करके उसे आदर्श भाषा का रूप देना भाषा दार्शनिकों का उद्देश्य है, जिससे ऊपर लिखित समस्याओं का समाधान किया जा सके। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्यों पर गौर करें–

"उसने फूलदान तोड़ दिया"

"फूलदान अपने आप टूट गया"

दोनों वाक्यों का मूल कथन एक ही है कि फूलदान टूट गया। किन्तु वाक्य का विश्लेषण करने से पता चलता है कि व्याकरण की दृष्टि से पहले वाक्य में क्रिया सकर्मक और दूसरे वाक्य में क्रिया अकर्मक है। पर भाषा दर्शन विचार करता है कि पहले वाक्य में फूलदान टूटने का नैतिक दायित्व व्यक्ति पर जाता है, पर दूसरे वाक्य में नैतिक दायित्व का जिम्मेदार कोई नहीं है, यदि कोई जिम्मेदार है तो हवा का झोंका या समयावधि अथवा पालतू पशु की उछल-कूद इत्यादि जो नैतिकता के क्षेत्र से परे है।

भाषा दार्शनिकों की सबसे अधिक रुचि शब्दार्थों की अस्पष्टता और अनिश्चयता को लेकर है। उदाहरण के लिये मैंने अपने भांजे को बहुत सालों बाद देखा और मैंने कहा, 'तुम इतने लम्बे हो गये'! मेरे इस वाक्य में 'लम्बा' शब्द एक सापेक्ष अर्थ का वाचक है अर्थात 'किससे लम्बा? सिर्फ़ 'लम्बा' कहने का कोई औचित्य नहीं है। लिलिपुट जैसे देश में ५ फुट 'लम्बा होना' कोई अर्थ रखता है, पर जिस देश में सभी बच्चे ५ फुट के तो अमूमन होते ही है, वहां 'लम्बा' कहने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। इसी तरह सिर पर कितने बाल होने पर या न होने पर किसी व्यक्ति को गंजा कहा जा सकता है –यह एक कठिन समस्या है।

'मनुष्य एक विवेकशील प्राणी हैं' – इस वाक्य के अंतर्गत 'मनुष्य' पद का वाच्य क्या है? इस पद से किस '**विशेष मनुष्य**' का बोध होता—'लम्बा, नाटा, काला, गोरा, स्त्री, पुरुष, यूरोपीय, भारतीय आदि। दुर्भाग्य से ऐसे किसी व्यक्ति का चित्र हमारे सामने उपस्थित नहीं होता है, जिसमें उपर्युक्त

सभी लक्षण एक साथ मौजूद हो। एक अमूर्त व्यक्ति का बोध तो होता है, पर उसका कोई चित्र उपस्थित नहीं होता है। इस अमूर्तीकरण की प्रक्रिया क्या है और कैसे होती है, यह भी एक दार्शनिक प्रश्न है? इन्हीं समस्यायों से जूझते हुए भाषा दार्शनिक शब्दों का विश्लेषण कर उनका अर्थ तथा प्रयोग की दिशा निर्धारित करने का प्रयास करते हैं।

बींसवी सदी के सबसे सफल दार्शनिकों में से एक Ludwig Wittgenstein गणित और तर्कशास्त्र को आदर्श मान कर एक ऐसी ही भाषा के निर्माण का सुझाव देते हैं, जिसे 'चित्र-सिद्धांत' (picture-theory) के नाम से जाना जाता है। उनके अनुसार भाषा ऐसी होनी चाहिए जो हूबहू दर्पण का काम करे। जैसे 'एक बैल लाओ, 'दही खाओ' आदि। यहाँ 'बैल' एक पशु हैं जिसे लाने का आग्रह किया जाता है और 'दही' खाने की वस्तु है, जिसे बाह्य जगत में स्थित पदार्थ कहा जा सकता है। हमारे भाषाई अर्थ ऐसे ही स्पष्ट और असंदिग्ध होने चाहिए जैसे गणितीय वाक्य 'दो और दो मिलकर चार होते हैं'– जिसमें संदेह की कोई गुंजाईश नहीं होती है। बिलकुल "खिड़की के शीशे की तरह साफ," जिनसे आर-पार देखा जा सके। परन्तु ऐसे शब्दों की संख्या सीमित होती है।

समस्या उन अनगिनत शब्दों को लेकर शुरू होती है– जैसे '**और**', '**में', 'अथवा' 'गणतंत्र' 'एवं' 'यदि'** '**प्रधानमंत्री के फ़ोन कॉल का क्या अर्थ है'** इत्यादि जिनका अर्थ किसी चित्र रूप में उपस्थित नहीं होता है। इस गणितीय भाषा की मुसीबत और भी बढ़ जाती है, जब हम सम्पूर्ण अर्थ को मुख्यार्थ में प्रयोग करने लगते हैं। जैसे निमंत्रण पत्रों में लिखा रहता है 'अतिथियों से निवेदन है कि ७:१५ पर समारोह में शामिल हो' अब भाषा-शास्त्री होने के नाते न आप ७.१४ पर पहुँच सकते हैं और न ही ७.१६ पर। आप गेट पर घुसने के लिए जैसे ही पैर बढ़ाते है तो एक सेकंड गुजर जाता है और आपका घुसना नामुमकिन हो जाता है।

इस समस्या का समाधान करने के लिए हमारे पास एक ऐसी भाषा होनी चाहिए, जो वक्ता के अर्थ को ठीक ठीक यानी एक सौ प्रतिशत समझने में समर्थ हो। अक्सर ऐसा होता है कि वक्ता कहता कुछ है, श्रोता कुछ दूसरा

अर्थ निकाल लेता है, और विवाद शुरू हो जाता। हमारे राजनीतिविदों को तो इस कला में महारथ हासिल है। इस विवाद को मिटाने के लिए ही पारदर्शी भाषा की आवश्यकता पड़ती है।

नव्य नैयायिकों ने कुछ ऐसी ही कोशिश ९वीं शताब्दी में की थी। पर उसकी सीमाएं निश्चित होने के कारण वह सिर्फ तात्त्विक भाषा बन के रह गई, उसका व्यावहारिक जीवन में कोई उपयोग न रहा। दृष्टान्तस्वरूप 'भूतले घटः' (भूतल में घट है) यह वाक्य लेते हैं। यहाँ 'भूतल ' आधार है 'घट ' आधेय है, और उनके बीच एक सम्बन्ध है जिसे 'संयोग' (contact) सम्बन्ध कहा जाता है। हालाँकि, दार्शनिकों को लेकर एक किस्सा प्रसिद्ध है कि दार्शनिक हमेशा इस उलझन में फंसे रहते है कि पात्र में तेल है या तेल में पात्र है। इस उलझन को सुलझाने के लिए नव्य न्याय की स्पष्ट और स्वच्छ भाषा में उपर्युक्त वाक्य को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता हैं–

"संयोगसम्बन्धावच्छिन्नभूतलत्वावच्छिन्नभूतलनिष्ठआधारतानिरुपितघटत्वावच्छिन्नघटनिष्ठआधेयता",

जो उपर्युक्त वाक्य के अर्थ को इस तरह से प्रकट करता है कि पाठक की नज़रों से **अर्थ** फिसल ही नहीं सकता, वाक्यनिष्ठ अर्थ ध्रुवतारे की तरह अटल हो जाते हैं। लेकिन ऐसा करना हमारी साधारण बोलचाल की भाषा में हद से ज्यादा क्लिष्टता उत्पन्न कर देता है। अतएव नव्य-नैयायिकों का यह प्रयास निष्फल साबित हुआ।

शायद इसी वजह से भाषा-दार्शनिक चुस्त और सटीक भाषा संधान करने के अपने आन्दोलन को स्थगित कर लोकव्यवहार की भाषा की तरफ मुड़ जाते हैं। हम इस चर्चा पर पुनः वापस आएंगे। फ़िलहाल Ludwig Wittgenstein के इस मशहूर कथन से इस लेख का समापन किया जा सकता हैं: "Whereof one cannot speak, thereof one must be silent।" अर्थात "जिसके बारे में कुछ कहा नहीं जा सकता, उसके बारे में चुप रहना बेहतर है। यहाँ 'न-कह सकना' एक असमर्थता जाहिर करता है, तो 'चुप रहना' इस दावे का समर्थन भी करता है। **(अक्टूबर२०, २०२४)**

१९

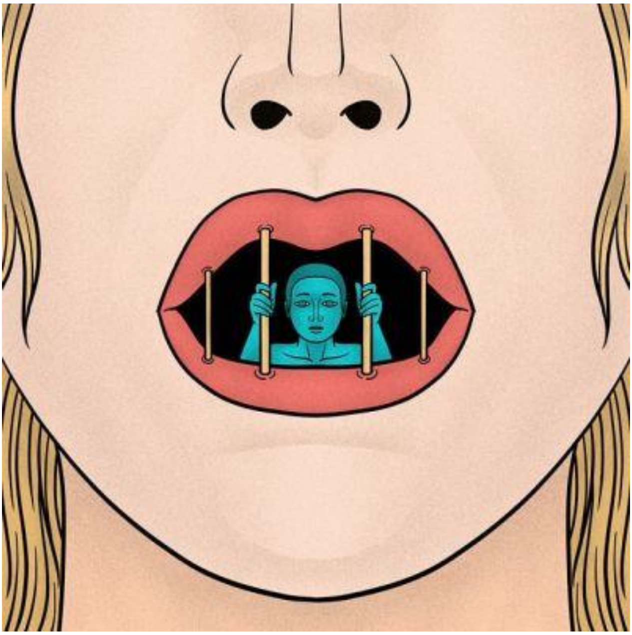

(लेखिका का वक्तव्य - सेमिनार से लौट कर मैंने बैग पटक कर कहा ‘सब बकवास ! इतनी बकवास कोई कैसे कर सकता है, वह भी दो घंटे लगातार?’ बकवास अर्थात अर्थहीन, असंगत वक्तृता, जिसका कोई सिर पैर नहीं था ! सिर भन्ना रहा था ! सोच ने करवट बदली – जब पूरा लेक्चर ही अर्थहीन था तो मुझे अर्थबोध कैसे हुआ कि ‘सब बकवास था!’ खैर अब समस्या तो सामने आ गई और मेरा सिर भन्नाना भी थोड़ा कम हो चुका था।)

इंतज़ार बकवास ख़त्म होने का!

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्य चिन्तामणि ने लिखा है कि "जो सुन पड़े सो शब्द है, समुझि परै सो अर्थ" अर्थात जो सुनाई पड़े वह शब्द है, तथा उसे सुनकर जो समझ में आवे वह उसका अर्थ है। अर्थ और उसे संप्रेषित करने वाला शब्द दोनों ही भाषा के अविच्छिन्न अंग हैं। शब्द श्रवण का विषय है और अर्थ बोध का विषय है। जिस भाषा को हम जानते है उस भाषा के शब्द को सुनने से अर्थ प्रतीति में कोई मुश्किल नहीं होती है, लेकिन किसी अपरिचित भाषा के शब्द को सुनने से अर्थ प्रतीति नहीं होती है। अतः कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का कोई स्वाभाविक सहज एवं नित्य संबंध नहीं होता है। (यद्यपि यह लम्बी बहस का विषय है।) भाषा यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की व्यवस्था है। अर्थात् **शब्द वह सांकेतिक इच्छा शक्ति है जो अर्थ बोध कराती है**। एकबार समाज की मान्यता उसे मिल जाये तो शब्द एक निश्चित अर्थ को सीधे संप्रेषित कर सकता है।

आचार्य **पाणिनि** हो, चाहे **निरुक्तकार यास्क**, भाषा का सार वे 'अर्थ' को ही मानते है। अर्थ-ज्ञान के बिना भाषा का व्यवहार निष्प्राण है। लोक व्यवहार और साहित्य में भी यदि प्राथमिक अर्थ किसी प्रसंग में अनुपयुक्त होता है, तो व्यक्ति प्राथमिक अर्थ का विस्तार कर अन्यार्थ को प्राप्त कर लेता है, जिसे शब्द की लक्षणा और व्यंजना वृत्ति कहा जाता है। जैसे 'बैल' शब्द के द्वारा एक विशेष पशु का बोध होता है। पर किसी अन्य सन्दर्भ में किसी व्यक्ति को 'बैल' कहने का अर्थ मूर्ख समझा जाता है। कभी कभी सभी अर्थों का त्याग कर वक्ता द्वारा इच्छित अर्थ ग्रहण कर, गुप्त भाषा में 'बैल' शब्द का अर्थ रात एक बजे किसी विशेष जगह पहुँचने का सन्देश भी हो सकता है।

प्रश्न उठता है कि अर्थ क्या है? साधारणतः 'अर्थ' शब्द – अभिप्राय, धन, हेतु, कारण, प्रयोजन, और वस्तु आदि के लिए प्रयुक्त होता है। इसलिए 'अर्थशास्त्र' के संदर्भ में हम 'अर्थ' शब्द का प्रयोग 'धन' के लिये करते हैं, जबकि 'भाषादर्शन' के संदर्भ में इसी 'अर्थ' शब्द का प्रयोग कभी बाह्यार्थ

(स्थान और काल में रहने वाला पदार्थ), कभी बौद्धार्थ (बुद्धिस्थ) और कभी अभिप्राय के लिए भी करते हैं। शब्द और अर्थ का यह संबंध प्रत्येक व्यक्ति अपनी भाषा-व्यवहार की परंपरा से सीखता है। उदाहरण के लिए वक्ता जब 'शरबत' या 'गाय' शब्द उच्चारण करता है, तो श्रोता को क्रमशःएक विशेष प्रकार के तरल पदार्थ और पशु विशेष का बोध होता है, जो बाह्य जगत में उपलब्ध होता है।

समस्या है कि शब्द का तात्पर्य यदि बाह्यजगत में स्थित अस्तित्ववान पदार्थ से लिया जाय तो कहना न होगा कि भाषा ऐसे अनेक अर्थों का उल्लेख करती है, जिसका बाहरी अस्तित्व से दूर दूर का भी सम्बन्ध नहीं होता है। उदाहरण के लिए 'भारतवर्ष' 'गणतंत्र' 'भीड़' इत्यादि अनगिनत शब्द है, जिनका बोध किसी चन्द्रमा की तरह अंगुली निर्देशन से दिखाया नहीं जा सकता है। इसी तरह 'मंगलवार का वर्गमूल क्या है' इस वाक्य का क्या अर्थ है? इस वाक्य को **असंगति पूर्ण** कहने का क्या तात्पर्य है?

समस्या प्रेत की तरह गर्दन जकड़ लेती है, जब **अतीत** और **भविष्य** सम्बन्धी वाक्यों के द्वारा अर्थबोध का प्रश्न उठता है। क्योंकि उनका तो बाहरी जगत में कोई अस्तित्व ही नहीं होता है। और फिर हमारा समस्त स्मृति सम्भार तो अतीत की घटनाओं से जुड़ा रहता है। अतएव वैयाकरण बाह्यार्थ के अलावा बौद्धार्थ अथवा बुद्धिस्थ अर्थ को भी स्वीकार करते है। जैसे ऐतिहासिक कंस और कृष्ण इत्यादि पात्रों का अभिनय करते समय अभिनेता अपनी बुद्धि में विद्यमान अर्थ के द्वारा उसे **वर्तमान** में अनुभव करके मंच पर उपस्थित करता है। यदि अर्थ की बुद्धिगत विद्यमानता नहीं स्वीकार की जाये तो अतीत को वर्तमान में नहीं लाया जा सकता है। नाटक शुरू होने के साथ साथ हमें ऐसे वाक्य प्रयोग करते हुए देखा जाता है, 'आओ, देखो ! कंस मारा जा रहा हैं/ मारा जायेगा/ अब जाकर क्या करोगे कंस मारा जा चुका है इत्यादि। इस तरह जो वस्तुएँ बाह्य जगत में नहीं है, वे भी बुद्धि का विषय बनकर अर्थयुक्त हो जाती है। अतएव भाषा के माध्यम से अर्थ में त्रिकालता देखी जाती है।

प्रसिद्ध व्याकरणविद नागेश दावा करते हैं कि दुनिया में जिन वस्तुओं को अलीक कहा जाता है यानी जिनकी बाहरी सत्ता असंभव होती है, जैसे

‘शशश्रृंग’ (खरगोश का सींग) ‘बन्ध्यासुत’ (बांझ महिला का बेटा), ‘ख-पुष्प’ (आकाश कुसुम), ‘कूर्मक्षीर स्नात’ (कछुए के दूध में स्नान करना) इत्यादि, उनका भी बुद्धिगत रूप से अर्थ प्रक्षेपण करके शाब्दबोध हो जाता है। इस तरह काल्पनिक पदार्थो की अभिव्यक्ति को अर्थहीन नहीं कहा जा सकता है। वक्ता के वाक्य उच्चारण के पश्चात् प्रथमतः श्रोता को श्रावण प्रत्यक्ष होता है, पुनः अर्थज्ञान होता है, तत्पश्चात उसे असंगत, अलीक और बकवास और सत्य-मिथ्या कहने का अधिकार प्राप्त होता है। नागेश एक दृष्टान्त के माध्यम से इसे और भी स्पष्ट करते हैं। मान लिया जाय कि कोई व्यक्ति मुझे चोर, बदमाश इत्यादि कह कर गाली-गलौज करता है। मुझे मालूम है कि उसके द्वारा उच्चरित वाक्य मिथ्या है, फिर भी मुझे कष्ट होता है, तो यह कष्ट बिना अर्थबोध हुए नहीं हो सकता है। यदि ऐसे वाक्य अर्थहीन होते तो बिना अर्थज्ञान के दुखी होने का कोई सवाल ही नहीं उठता है।

पहले भी कहा जा चुका है कि भाषा-दार्शनिक का सरोकार एक ओर जहाँ अर्थज्ञान से होता है वही दूसरी ओर सत्य से भी होता है। एक वाक्य सार्थक तभी कहा जा सकता है जब वह अनुभव के द्वारा परखा गया हो। जैसे ‘अमेरिका के वर्तमान प्रधानमंत्री गंजे है’ इस वाक्य से अर्थ तो उत्पन्न होता है पर इसे सत्य या मिथ्या दोनों ही नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अमेरिका के प्रधानमंत्री ही नहीं हैं। लेकिन यदि वक्ता कहे ‘भारतवर्ष के वर्तमान प्रधानमंत्री गंजे है’ तो यह वाक्य मिथ्या है क्योंकि यह अनुभव विरुद्ध है। इसी तरह ‘त्रिभुज तीन बाहु विशिष्ट एक आकृति होती हैं’ तो यह वाक्य सत्य है, पर इसके द्वारा हमारे ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती है, क्योंकि उद्देश्य पद में जो कुछ कहा गया है उसी की विधेय पद में पुनरावृत्ति की गई है। ‘त्रिभुज’ शब्द का अर्थ ही होता है तीन बाहु विशिष्ट आकृति।

विख्यात भाषाशास्त्री चोमस्की इसे स्पष्ट करते हैं। "Colourless green ideas sleep furiously" (रंगहीन हरी धारणा गुस्से में सोती है) इस वाक्य के अंतर्गत सभी शब्दों का प्रयोग पृथक पृथक रूप से अर्थ पूर्ण है, पर उनका सम्मिलित स्वरूप अर्थ तो उत्पन्न करता है, पर व्याकरण की दृष्टि से वाक्य सही होने पर भी अर्थबोध की दृष्टि से सत्य या मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। साहित्यिक अक्सर ऐसे काल्पनिक वाक्य रचना करते हैं, जिन्हें

काव्यिक दृष्टि से सृजनशील कहा जाता है, पर इसे सत्य-मिथ्या की परिधि से बाहर ही रखा जाता है (यह पृथक आलोचना का विषय है)।

भाषा एक प्रकार का खेल है जो व्याकरणिक नियमों के साथ साथ लोक व्यवहार के द्वारा संचालित होता हैं। जिस तरह किसी भी खेल के कुछ निर्धारित नियम होते हैं, वैसे ही भाषा भी नियमों के अनुसार ही प्रयोग में लाई जाती है। जैसे शतरंज के खेल में मोहरे कैसे आगे बढ़ेंगे यह सब नियम के मुताबिक होता है। यदि नियम के विपरीत मोहरा आगे बढ़े, तो इसे गलत चाल कहा जाता है। व्याकरणिक नियमानुसार होने पर भी वाक्य यथार्थ बोध उत्पन्न नहीं कर सकता है, यदि वह लोक व्यवहार के विरुद्ध हो, जैसे 'वह आग से पौधौं को सींचता है' यह वाक्य व्याकरण की दृष्टि से सही होने पर भी अनुभव विरुद्ध है, क्योंकि आग में सींचने की क्षमता नहीं होती है। अतः ऐसे वाक्यों से श्रोता को कोई यथार्थ बोध नहीं होता है। 'वहां कुछ है' अथवा 'वहां कुछ नहीं है' ऐसे वाक्य लोक व्यवहार में खूब प्रचलित है, पर वाक्य में निहित शब्द 'कुछ नहीं' और 'कुछ' से किस अर्थ का बोध होता है, यह स्पष्ट नहीं है।

अंततः, भाषा और लोकजीवन के बीच कोई अलगाव नहीं हो सकता है। जैसे जीवन कैसे जीना है इसके लिए कोई एक मानक नहीं होता है, उसी तरह भाषा का प्रयोग कैसा होगा यह लोक सापेक्ष ही होता है, लोकभाषा के समर्थक दार्शनिक ऐसा मानते हैं। अंत में बचपन में पढ़ी एक कविता जो काल्पनिक होकर भी अर्थ बोध कराने में सक्षम होती हैं – उसका उल्लेख करना चाहूंगी:

लग जाते अंगूर नीम में और कुएं से दूध निकलता।
बिना तेल के डाले भी यदि घर में दिया रात दिन जलता।
जोते बोये बिना खेत में गेंहू धान चना उग आते।
केला नाशपाती संतरा आम हर ऋतू में आते।
रूपया पैसा फैला होता पृथिवी पर जैसे हो गिट्टी।
छू लेते हम जिसे चाव से सोना बन जाती वह मिट्टी।
इच्छा करते जिसकी भी वह चीज तुरंत ही पा सकते हम।

इच्छा करते जहाँ जरा भी वहां तुरंत ही जा सकते हम।
बिना पढ़े ही विद्या आती कभी न हम दुनिया में मरते।
तो क्या बतला सकते बच्चों हम क्या करते तुम क्या करते?

(नवम्बर ०२, २०२४)

২০

The uttering of the sentence is, or is a part of, the doing of an action, which again would not normally be described as, or as 'just,' saying something.
[(How to Do Things with Words—J. L. Austin (1911-1960)]

"कुछ कहना कुछ करना है" – जॉन ऑस्टिन के कथन का परीक्षण

एक समय था जब 'कहना' क्रिया का अर्थ वास्तव में कुछ करने से लिया जाता था, जैसे भीष्म ने प्रण किया कि वह आजीवन ब्रह्मचारी रहेंगे। उन्होंने अपने वचन का पालन भी किया। यद्यपि भीष्म-प्रतिज्ञा के कारण कुरुक्षेत्र का विनाशकारी युद्ध भी हुआ। किन्तु आजकल प्रतिज्ञा पूरी न करने के हजारों कारण आपके सामने पेश किये जाते हैं, और आप उन्हें मानने के लिए मजबूर हो जाते हैं। निस्संदेह 'कहना' और 'निभाना' दोनों ही क्रिया है, पर संभवत दोनों के बीच एक व्यवधान है, जिसे भाषाई दर्शन में **प्रतिबद्धता** से पाटा नहीं जा सकता है।

John Langshaw Austin, ब्रिटिश दार्शनिक, रोजमर्रा की भाषा के व्यवहार एवं प्रयोग को अपनी दार्शनिक आलोचना का केंद्रबिंदु बनाकर भाषा दर्शन में एक नई शैली को विकसित करने का प्रयास करते हैं, जो भाषा समझने में एक नई दिशा प्रदान करती है। अपनी पुस्तक, *शब्दों के साथ काम कैसे करें* (How to Do Things with Words) में वे वक्ता की वाचन क्रिया (speech act) पर जोर देते हुए रोजमर्रा की भाषा की अवधारणाओं और अभिव्यक्तियों का विश्लेषण करके उसमें निहित जटिलताओं की टोह लेते हैं। उदाहरण के लिए आदेश देना, प्रतिज्ञा करना, प्रार्थना करना, विस्मय व्यक्त करना इत्यादि वाक्य किसी विशेष परिस्थिति में एवं किसी विशेष उद्देश्य से उच्चारण किये जाते हैं। इन वाक्यों से श्रोता को तथ्यात्मक वाक्यों की तरह कोई सूचना नहीं दी जाती है, बल्कि इनके द्वारा 'विशेष क्रिया' संपन्न की जाती है, जिसका सत्य अथवा मिथ्या से कोई ज्यादा ताल्लुक नहीं होता है। ऑस्टिन का प्रसिद्ध नारा है, "कुछ कहना कुछ करना है"। उदाहरण के लिये–

- मैं इस जहाज का नाम 'क्वीन एलिजाबेथ' रखता हूँ।
- मैं आपसे १०० रुपयों की शर्त लगाता हूँ कि कल बारिश होगी।

- मैं तुम्हें दरवाज़ा बंद करने का आदेश देता हूँ।
- ओह! मैंने तो देखा ही नहीं।

उपर्युक्त वाचन अभिव्यक्तियों के द्वारा नामकरण, शर्त लगाना, आदेश देना और विस्मय आदि क्रियाओं को संपन्न **करने** की बात की गई है।

ऑस्टिन के पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने दर्शन चर्चा के क्षेत्र से उन सभी वाक्यों को मानो निकाल फेंका था जो सत्य और मिथ्या की परिधि में आबद्ध नहीं होते हैं, जैसे, आदेश देना, प्रतिज्ञा करना तथा सचेत करना आदि। इसके विपरीत ऑस्टिन शब्दों को बहुआयामी रूप में देखते हैं। उनके अनुसार तथ्य ज्ञापन करना तथा अर्थ की सत्यता के पहलू पर विचार करने के अतिरिक्त भी वाक्य बहुत कुछ कहता है, उसे समझने के लिए वक्ता का सामाजिक परिप्रेक्ष्य, प्रयोजन, स्थान और काल का विचार करना आवश्यक हो जाता है। उदाहरण के लिए यदि किसी रसोइये की नौकरी के लिए किसी आवेदक की सिफ़ारिश करने वाले पत्र-लेखक ने स्पष्ट रूप से केवल यही लिखा है कि 'मिस्टर चोपड़ा समय के बहुत पाबंद हैं और उनकी लेखनी उत्कृष्ट है', तो वह आवेदक के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं देते हैं। उनका तात्पर्य यह हो सकता है कि आवेदक इस नौकरी के योग्य नहीं है, क्योंकि खाना बनाने की योग्यता उसमें नहीं है जो आप ढूंढ रहे हैं, विनम्रतावश पत्र-लेखक ने यह उल्लेख नहीं किया है।

ऑस्टिन तीन तरह से वाचन क्रिया को विभाजित करते हैं, **हम क्या कहते हैं, कहना एक क्रिया है** (locutionary), **जब हम कुछ कहते हैं तो उसका क्या अभिप्राय होता है**, जैसे प्रतिज्ञा करना, आदेश देना इत्यादि (illocutionary), और श्रोता पर **उसका क्या प्रभाव पड़ता है** –वह डर जाता है या वक्ता की बात से सहमति अथवा असहमति व्यक्त करता है (perlocutionary)। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट किया जा सकता है। यदि वक्ता कहता है "आपकी अंगुलियां बहुत सुन्दर है", तो इसे प्रशंसात्मक क्रिया के रूप में लिया जाता है, पर यदि कोई आतंकवादी ऐसा कहता है, "तुम्हारे नाख़ून सुन्दर हैं तुम शायद इसे उखाड़ना न चाहो" तो समझना

चाहिए वह मुझे धमकी दे रहा है। ऑस्टिन स्वयं स्वीकार करते हैं कि कथन के ये तीनों घटक पूरी तरह से अलग नहीं हैं।

वस्तुतः किसी वाक्य को उच्चारण करना ही एक क्रिया (performative acts) है, जो वक्ता का विश्वास, इच्छा, आशा, आदेश इत्यादि प्रकट करता है। ऑस्टिन विश्लेषणात्मक दृष्टि से "Ifs and Cans" प्रबंध में दिखाते है, वक्ता जब कहता है "मैं कर सकता हूँ" तो उसका तात्पर्य होता है "यदि मैं कोशिश करूँ तो कर सकता हूँ"। वक्ता के तात्पर्य को यदि श्रोता पकड़ने में समर्थ होता है, तो बातचीत की सफलता निश्चित हो जाती है। वक्ता और श्रोता को एक संतुष्टि का बोध (felicity) होता है, जो दोनों की एक साझा प्रतिक्रिया होती है।

हम अक्सर देखते है कि दो देशों के मध्य किसी विशेष विवाद को लेकर जब कोई राजनैतिक बैठक होती है, तो बैठक के अंत में एक साझा रिपोर्ट प्रस्तुत की जाती, जिसमें दोनों पक्ष के प्रतिनिधि हस्ताक्षर करते हैं। इस समझौता प्रति के अनुसार जब कार्य संपन्न होता है, तो हम इसे सफल बैठक मानते हैं। ऑस्टिन के विख्यात वक्तव्य को इस प्रसंग में उल्लेख किया जा सकता है - "**सत्य होने के लिए दो की आवश्यकता पड़ती है।"** (It takes two to make a truth), जो इस बात को प्रमाणित करता है कि भाषा कोई एकतरफा खेल नहीं है, इसमें 'दो' का शामिल होना अनिवार्य होता है।

लेकिन कई बार ऐसा होता है कि वक्ता वाक्य उच्चारण करता है, "मैं तुम्हें अपनी गाड़ी देने का वादा करता हूँ" पर अंत में वह अपने वादे को निभाता नहीं है। इसके बावजूद उसके कथन को मिथ्या नहीं कहा जा सकता है। ज्यादा से ज्यादा इतना ही कह सकते हैं कि उसने वादाखिलाफी की (*misfire) अथवा वक्ता के कथन से* श्रोता को असंतुष्टि (infelicitous) हुई। वक्ता के आदेश देने के बावजूद श्रोता यदि उसका पालन नहीं करता है, या वक्ता ने ऐसा कुछ मजाक किया जो श्रोता को समझ में नहीं आता है, तो वार्ता औंधे मुंह गिर पड़ती है। ऑस्टिन के अनुसार शब्द वह अस्त्र है, जो जितना अधिक धारदार (स्पष्ट) होगा वार्तालाप उतना ही सफल होगा। उदाहरणस्वरूप, कोई साहित्यिक सेमिनार में जाकर ज्यामिति के किसी

कठिन उपपाद्य पर वक्तृता देने लगे, तो अप्रासंगिक और सन्दर्भहीन होने के कारण उसे असफल वक्ता कहा जायेगा।

ऑस्टिन जानते है कि भाषाई-अर्थ परिस्थिति-सापेक्ष होने के कारण अत्यन्त जटिल और लचीले होते है, उनका अर्थ निकालना कभी कभी अजीबोगरीब पेशोपेश में डाल देता है। दृष्टान्त स्वरूप दरवाज़े पर कुण्डी खटखटा कर किसी ने पूछा, "अमुक व्यक्ति घर पर है ?" वक्ता क्या उत्तर दे असमंजस की स्थिति में आ जाता है। बिस्तर पर लेटे हुए एक मृत व्यक्ति के बारे में वह क्या कहेगा? "वह घर पर है"? या "वह घर पर नहीं है"? ऐसे मामलों में हम क्या कह सकते हैं अथवा क्या नहीं कह सकते हैं, इसके बारे में कोई निर्धारित नियम नहीं हैं।

इसी तरह "बिल्ली चटाई पर बैठी है" इस वाक्य की सत्यता निर्भर करती है, स्थिति की अनुरूपता पर। बिल्ली यदि चटाई पर बैठी है, तो वाक्य सत्य कहा जाता है, अन्यथा मिथ्या। लेकिन–

- यदि कोई दौड़ाक कहता है कि "मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि इस वर्ष मैं मैराथन जीतूँगा" और दुर्भाग्यवश वह हार जाता है तो इसे **मिथ्या** नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उसकी क्षमता दौड़ने के वक्त कमजोर हो जाती है, और वह हार जाता है। ऐसी परिस्थिति में हम इतना ही कह सकते हैं, कि वह अपने कार्य में **असफल** रहा।
- इसी तरह वैज्ञानिकों ने घोषणा की "अमुक दिन अमुक समय उपग्रह का उत्क्षेपण किया जायेगा", पर उत्क्षेपण के कुछ घंटे बाद तकनीकी त्रुटि के कारण वह असफल हो जाता है। तो इसका अर्थ यह नहीं है कि उनका उनका कथन मिथ्या था। हताश होकर हम सिर्फ कहते हैं, 'ओह! उत्क्षेपण की क्रिया **असफल** हो गई'।
- हवाई जहाज में बैठने के बाद यह आदेश दिया जाता है, "यात्रियों से अनुरोध हैं कि इस समय धूम्रपान वर्जित है, अपनी ट्रे टेबल और सीटबैक को सीधा कर लें तथा सीधे बैठे" – यदि कोई यात्री इस आदेश का पालन नहीं करता है तो उसे फटकार मिल सकती है,

अथवा अधिक उच्छृंखलता दिखाने पर उसे सजा भी दी जा सकती है।

- “क्या आप मेरे साथ आज दोपहर काफी हाउस में मिल सकते हैं?" और श्रोता उत्तर देता है, "मेरी क्लास है"। श्रोता प्रस्ताव को अस्वीकार करने के बजाय अप्रत्यक्ष कथन का इस्तेमाल करता है, "मेरी क्लास है"। इस वाक्य से वक्ता उसके अभिप्राय ‘अस्वीकृति’ को समझ लेता है। रोज़मर्रा की वाचन क्रियाओं में यह समझना आम बात हैं।
- जब कोई वक्ता कहता है, ‘सांड खतरनाक होते हैं’, यह वाक्य एक ओर जहाँ सूचना देता है, वहीँ दूसरी ओर श्रोता को सचेत भी करता है।

आजकल कृत्रिम मेधा के व्यापक प्रसार के कारण विश्लेषण की यह पद्धति संवाद के तरीके को अधिक से अधिक कामयाब बनाने का दावा करती है। इससे लोकभाषा के वास्तविक क्रियाकलापों का उचित संरक्षण और भाषाई सिद्धांत हमारी समझ को गहराई तक ले जाते हैं, जो प्रभावशाली वार्ता विनिमय में सहायक होता है। कहना न होगा कि हिंदी के विख्यात भाषाविद डॉ सुरेश पन्त का कार्य इस क्षेत्र में अत्यन्त सराहनीय है।

इस सन्दर्भ में मैं भारतीय दर्शन में आलोचित विधि वाक्यों का उल्लेख करना चाहूंगी, जहाँ क्रिया की सफलता साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता (किसी काम को करने की विधि) की एक सामूहिक चेष्टा को कहा जाता है। उदाहरण के लिए प्रधानमंत्री बनने का इच्छुक व्यक्ति का साध्य (प्रधानमंत्री बनना) निश्चित है, प्रयोजन है, क्षमता हासिल करना और समाज सेवा करना, चुनाव लड़ने की सभी आवश्यक शर्ते पूरी करना (साधन) कहा जाता है। अपने लक्ष्य के प्रति **प्रतिबद्धता** एक अत्यंत आवश्यक शर्त है जो विधि वाक्यों के ही अन्तर्गत छिपी रहती है। महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्य ऐसे प्रसंगों से भरे पड़े हैं। प्रतिज्ञा पूरी **करने** के लिए दशरथ को प्राण गंवाने पड़े, राम को चौदह वर्ष का वनवास देना पड़ा। प्राच्य और

पाश्चात्य चिन्ताधारा की इन सूक्ष्म बारीकियों में जाने का यह उपयुक्त प्रसंग नहीं है, पर भाषा दर्शन के क्षेत्र में यह अवश्य ही प्रणिधान योग्य है।

(नवम्बर १२, २०२४)

२१

(दर्शन या फिलासफी में सरलता से समझ आने वाला शायद कुछ नहीं है। लेकिन अच्छी बात ये है कि डॉ मधु कपूर फिर भी काफी हद तक विषय का प्रस्तुतिकरण रोचक ढंग से कर देती हैं। कुल मिलाकर आप कह सकते हैं कि विषय सरल नहीं भी हो पाया तो सरस तो हो गया। अब आज के लेख का यही वाक्य लीजिए - "भाषा यद्यपि शिक्षण में मदद करती है, पर इसकी सीमा निर्धारित है, क्योंकि वह सत्य को उजागर करने में कोई मदद नहीं करती है, उलटे अपव्याख्या कर श्रोता को दिग्भ्रांत करती है।" तो हुई ना लेख पढ़ने में रुचि!)

शब्दहीनता और अर्थहीनता का समीकरण = शून्यता

मेरे किसी मित्र ने पूछा 'रसगुल्ले का स्वाद कैसा होता है',

मैंने कहा 'मीठा'.

उसका प्रश्न था 'मीठा? शहद की तरह? या फिर चाकलेट की तरह ?',

मैंने कहा ,'नहीं, नहीं, चीनी की तरह, और रुई की तरह नरम'.

'वह तो प्राय सभी मिठाइयों का होता है' काफी बहस के बाद मैंने कहा, 'तुम, बस अब खा के देख लो, और कुछ नहीं कहा जा सकता। इस बात का सिलसिला चलता रहता जब तक मैं इस विवाद को ख़त्म न कर देती कि लो, खा के देखो, तो ...

जब पहली बार किसी वस्तु को देखते हैं, तो क्या देखते हैं, केवल उसका रंग, आकार लम्बाई, चौड़ाई, नरमाई आदि। पर यह नहीं जानते हैं कि यह क्या वस्तु है, किस काम आती है, यहाँ तक की रंग इत्यादि के सम्बन्ध में भी कोई जानकारी नहीं होती है? जरा गौर से सोचें इन सभी दृश्य धारणाओं के अतिरिक्त बर्तन, नारंगी, कप, रसगुल्ला कहाँ देखते है, जब तक यह न बता दिया जाय कि 'यह नारंगी है,' 'यह बर्तन है,' 'यह कप है' इत्यादि। वस्तु से यदि इनके गुणों को एक एक कर निकाल दिया जाय तो क्या बचेगा? एक शून्य! यह असंगति बौद्धों को यह निष्कर्ष निकालने की अनुमति देती है कि धारणा से अतिरिक्त बाहरी वस्तु का कोई अस्तित्व नहीं है। हम सभी गुणों के समूह का पुनर्निर्माण करते हैं, और कहते हैं कि 'यह कप है' या 'यह नारंगी है, इत्यादि।

हम यह भी जानते हैं कि शब्द एक निश्चित अर्थबोध का ही नियामक होता है, अन्यथा श्रोता को किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ का बोध होने लगेगा। लेकिन प्रश्न है कि यह सम्बन्ध का नियामक कौन होता है?

कुछ के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर अथवा मनुष्य जनित इच्छा संकेत है, जो किसी व्यक्ति के द्वारा किसी विशेष समय में निर्धारित कर दिया जाता है। उदाहरण के लिए किसी बच्चे के जन्म पर माता पिता उसका नामकरण अपनी इच्छानुसार करते हैं।

कुछ मानते हैं शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है, अर्थात 'जो शब्द है वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है'।. रामचरितमानस में तुलसीदासजी कहते हैं - 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'. अर्थात शब्द और अर्थ का संबंध जल और लहरों की भांति है जिसे भिन्न-भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसलिए मिठाई या चाट का नाम सुनते ही मुँह में पानी भर आता है। साँप या भूत का नाम सुनते ही मन में भय का संचार हो जाता है। लेकिन कभी कभी देखा जाता है कि 'आग' और 'तलवार' जैसे शब्दों को सुनने के बाद किसी के मुंह में जलने और कटने का वास्तविक अनुभव नहीं होता है। अतएव आशंका होती है कि यह सम्बन्ध तादात्म्य कैसे हो सकता है?

बौद्ध दार्शनिकों की मान्यता इन सबसे भिन्न है। चूँकि वे अपने तत्व चिंतन में किसी भी वस्तु की कोई सनातन या निरपेक्ष सत्ता स्वीकार नही करते हैं, इसलिए ऐसी स्थिति में स्वभावत: यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जब वस्तु का स्वरूप क्षणिक है, तो फिर किसी शब्द का अर्थ संकेत के द्वारा कैसे निश्चित किया जा सकता है? जब हम कहते हैं 'यह गाय है' तो यहाँ 'गाय' शब्द उन वस्तुओं का निषेध करता है, जो गाय नही है। शब्द वस्तु की सत्ता का बोध नहीं कराता है, अपितु गाय से भिन्न वस्तुओं का निषेध करता है। "गाय बांधों" के कहने पर कोई अश्व को नहीं बांधता है, गाय को ही बांधता है। 'मांस मत खाओ' का अर्थ है, 'जो मांस नहीं है उसे खाओ'। इस सम्बन्ध में बौद्ध 'अपोहवाद' का समर्थन करते हैं, जिसका अर्थ है शब्द के द्वारा उल्लिखित अर्थ से भिन्न वस्तु का निषेध करते हुए वाच्यार्थ तक पहुँचना। अर्थात 'गौ' शब्द का अर्थ है 'गवेतरभिन्न प्राणी', गौ से इतर जितने भी प्राणी है उनसे भिन्न 'गौ' ही वाच्यार्थ हो सकती है। जिस तरह धुआं देख कर अग्नि का अनुमान हम करते हैं उसी तरह 'गौ' शब्द सुन कर हम अनुमान करते हैं कि 'गौ शब्द गौ-प्राणी अर्थ का वाचक है ।'

बौद्धों के अनुसार शब्द के द्वारा किसी यथार्थ वस्तु की सत्ता का ज्ञान नहीं होता है। इन्द्रियों के माध्यम से हमें जो प्रथम संवेदनाऐं प्राप्त होती है, वह नाम, जाति, गुण इत्यादि, यहाँ तक की ज्ञाता ज्ञेय भेद से भी रहित होती है। धीरे धीरे हम उनके गुणों से परिचित होते हुए उन्हें नाम इत्यादि से पहचानने लगते हैं। लेकिन जो प्रथम क्षण का अनुभव था, वही वस्तु का असली परिचय होता है, जिसे स्वलक्षण या निर्विकिल्पक ज्ञान (विकल्प वर्जित) कहा जाता है। स्वलक्षण के पश्चात उत्पन्न संस्कार को नाम, गुण और जाति की पोशाक पहना कर सविकल्पक या सामान्य ज्ञान की संज्ञा देते हैं। सामान्य वाचक शब्द उस जाति की सभी वस्तुओं का बोध कराने में समर्थ होता है। 'गाय', 'घोड़ा' आदि शब्द पृथ्वी के किसी भी गाय, घोड़ा आदि पशुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, किन्तु इसके द्वारा किसी विशेष गाय या घोड़े का बोध नहीं होता है, क्योंकि हमें पता नहीं होता है, कौन सी गाय? किसकी गाय? किस रंग की गाय इत्यादि । इस तरह शब्द हमें धोखा देते है और सही दृष्टि को आच्छन्न कर देते हैं। शब्द सिर्फ एक 'नाम' है। सामान्यवाचक शब्दों को इस तरह भ्रामक ही कहना चाहिए।

भाषा आवरण है, जो वस्तु का नग्न अर्थात सही रूप देखने में बाधा उत्पन्न करती है। जैसे, कोई व्यक्ति जब अभिनय करता है, तो उसका वास्तविक स्वरूप हमें ज्ञात नहीं होता है। अपना अभिनय का चोला उतार देने के बाद हम पहचानते लेते हैं कि 'अरे! यह तो पडोसी का पप्पू निकला'। इसी तरह रोजमर्रा के जीवन में देखा जाता है, किसी भी वस्तु का वास्तव परिचय तभी संभव होता है जब हम उसके नकली मुखौटे को हटा कर देखते हैं । कहने का तात्पर्य है कि जिस तरह एक अपराधी के व्यवहार में परस्पर असंगति देख कर और फिर उसका निषेध करते हुए कुशल प्रशिक्षक उसके नकाब को उतारने में सक्षम होता है, उसी तरह वस्तु के गुणों का निषेध करते हुए हम उसके वास्तव स्वरूप से अवगत हो जाते हैं। दैनन्दिन प्रयोग में देखा जाता है, किसी नए शहर में जाकर किसी विशेष व्यक्ति के घर को ढूंढते हुए पहले हम आसपास के सभी घरों का निषेध करते हैं, और अंत में अभीष्ट घर तक पहुँचने में सफल होते हैं। शब्द से अर्थ प्राप्ति की भी यही

प्रक्रिया है । बौद्ध दार्शनिकों के अनुसार शब्द का वास्तविक अर्थ अपोह (इतर व्यावर्तक अर्थ) ही है।

अपोहवाद का सिद्धांत यह दिखाने में अधिक रुचि रखता है कि भाषा कभी भी बोधगम्य विषय का सटीक प्रतिनिधित्व नहीं कर सकती है। बोधगम्यता जहाँ एक ओर ज्ञान का विषय है, भाषा वहीं वाणी का विषय है। दोनों इंद्रियां भिन्न भिन्न स्थान में होने के कारण एक-दूसरे को अपनी जानकारी नहीं दे सकती हैं, अतः बौद्धों के अनुसार भाषा के साथ विषय का कोई संपर्क नहीं होता है। किसी बोतल में लेबल लगा देख कर हम समझ जाते है कि इसमें विष है या कोई दवाई है, किन्तु बिना चखे उसका स्वाद ग्रहण हमें नहीं होता है। वस्तुतः भाषा का उद्देश्य वक्ता के अभिप्राय को प्रकट करना होता है, जैसे 'यह मेरी नई पुस्तक है', 'मैं ट्रेन से जाता हूँ'। हो सकता है बोतल में बिष न होकर पानी ही हो, या मेरी कोई नई पुस्तक आई ही न हो, अथवा मैं ट्रेन से न जाकर प्लेन से जा रहा हूँ इत्यादि, पर मेरा उद्देश्य श्रोता को दिग्भ्रांत करना होता है।

अतः भाषा-ज्ञान का महत्त्व बस इतना ही है कि सम्यक वाक् के द्वारा हम किसी का दुःख कम कर सके, या मिथ्या, कठोर वचन, वाक वितंडा से बच कर आपस में वैमनस्य और मलिनता को बढ़ावा न दें। भाषा यद्यपि शिक्षण में मदद करती है, पर इसकी सीमा निर्धारित है, क्योंकि वह सत्य को उजागर करने में कोई मदद नहीं करती है, उलटे अपव्याख्या कर श्रोता को दिग्भ्रांत करती है। अतः भाषा की असमर्थता जानने के पश्चात् और वास्तविकता की गहराई में जाने के लिए शब्द और अर्थ के द्वैत का अतिक्रमण करना आवश्यक हो जाता है। "सूर्य अस्त होने वाला है' यह वाक्य सुनकर चार व्यक्ति चार तरह की गतिविधियों में लग जाते है, चोर चोरी करने, वेश्या अपने पेशे में, विद्यार्थी पढ़ने में और गृहस्थ संध्या वंदन के लिए निकल पड़ता है। इस तरह बौद्धों के अनुसार शब्दार्थ निर्णय करना अत्यन्त दुर्लभ कार्य है।

आचार्य नागार्जुन का मानना है कि किसी वस्तु का स्वरूप जानने के हमारे पास चार प्रकार है। जैसे, अस्ति (पुस्तक है), नास्ति (पुस्तक नहीं है),तदुभयम् (एक साथ ही अस्ति नास्ति दोनों अर्थात यहाँ है, वहां नहीं है)

तथानोभयम् (अस्ति नास्ति दोनों कोटियों का निषेध अर्थात यहाँ भी नहीं है, वहां भी नहीं है) । नागार्जुन की दृष्टि में चारों कोटियाँ हमारे दैनन्दिन जीवन की बुनियाद है। पर वस्तु सत्ता इससे पृथक होती है, क्योंकि हम उसे किसी कोटि में बाँध कर सीमित नहीं कर सकते हैं। उसका असली स्वरूप इन चारो से परे है। इसीलिए उसके अभिधान के लिए 'शून्य' (निःस्वभाव) शब्द का प्रयोग बौद्ध दार्शनिक करते हैं। ध्यान देने की बात यह है कि यह शून्य कोई निषेधात्मक अर्थ नहीं है जिसका अपलाप किया जा सके । शून्य का अर्थ यदि ख़ालीपन लिया जाय तो यह एक नकारात्मक शब्द है। 'शून्य' का मतलब यहाँ 'नहीं होना' नहीं है, बल्कि असीमित रूप से मौजूद होना है, जो भाषा का अतिक्रमण कर जाता है। वह अवस्था बस 'हो जाने' की है। जैसे दृष्टिहीन व्यक्ति को रंगों का ज्ञान नहीं दिया जा सकता हैं, उसी तरह निर्वाण का अनुभव भाषा के द्वारा नहीं बतलाया जा सकता है। निर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् बुद्ध इसका वर्णन भाषा के द्वारा करने में असमर्थ होते हैं, अतः कोई उत्तर न देकर वे मौन धारण कर लेते हैं।

भाषा तो सिर्फ संवृत्ति सत्य या व्यावहारिक सत्य का आधार मात्र है। कुछ कार्य ऐसे होते हैं जहाँ भाषा प्रयोग की आवश्यकता ही नहीं पड़ती है। जैसे नल खोलना, कमरा पोंछना, बाल्टी उठाना, बर्तन उठाना, सब्जी काटना, आटा गूंथना इत्यादि और भोजन करने के पश्चात् यह बताना भी मुश्किल हो जाता है 'स्वाद कैसा था?' यदि अतिथि कहे, 'अच्छा या बहुत अच्छा' तो भी मुश्किल है समझना, 'अच्छा का क्या मतलब हैं?' और इस तरह शब्द और अर्थ का समीकरण एक प्रहेलिका बन जाता है।

(नवम्बर २५, २०२४)

२२

स्वप्रकाशो यथा शिवः तथा शक्तिरपि शिवात्मिका।
विश्वप्रकाशिनी सा तु विमर्शरूपिणी मता॥

(जिस प्रकार शिव स्वयं प्रकाश स्वरूप हैं, वैसे ही उनकी शक्ति भी शिवरूपा है। वह शक्ति ही इस विश्व को प्रकाशित करती है और 'विमर्श' (Self-awareness) के रूप में अस्तित्व का बोध कराती है। अस्तित्व के संबंध में यह दृष्टिकोण सबसे महत्वपूर्ण है कि यह जगत शिव से अलग नहीं है।)

अस्तित्व, चेतना और भाषा की अद्भुत लीला : काश्मीर शैवागम

काश्मीर शैवागम में, "अस्तित्व, चेतना और भाषा की अद्भुत लीला" शिव और शक्ति के माध्यम से प्रकट होती है, जिसमें 'अहं' की एक खास भूमिका होती है। हम पूर्व के लेख "शब्दहीनता और अर्थहीनता का समीकरण = शून्यता" में देख चुके हैं कि भाषा, बौद्धों के अनुसार, वस्तु स्वरूप का उद्घाटन एक सीमित दायरे में ही करती है, एवं दिग्भ्रांत करने में भी कोई कसर नहीं छोड़ती है। काश्मीर शैवागम इसके विपरीत भाषा को एक ऐसा उपाय मानते हैं, जो हमारे अज्ञान का पर्दा उठा कर सत्य का साक्षात्कार कराने में मदद करती है। भाषा न केवल व्यक्ति के आध्यात्मिक अस्तित्व की यात्रा का पथ सुगम करती है, बल्कि चेतन सत्ता के माध्यम से व्यक्ति और विश्व के बीच की दीवार को हटा कर अभेद का मार्ग प्रशस्त करती है, जिसमें न तो नकार है, और न ही मिथ्या की प्रामाणिकता।

शैवागम में परावाक् को एक सूक्ष्म सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है, जहाँ सम्पूर्ण अस्तित्व वाङ्मय हो उठता है। उदाहरण के लिए, एक सौ रुपये की गड्डी टेबल पर पड़ी है, जो पहली दृष्टि में हम केवल एक 'वस्तु' के रूप में उपलब्ध करते हैं, क्योंकि उसके स्वरूप को हम स्पष्ट पहचान नहीं पाते हैं, धीरे धीरे जितना उसके नजदीक जाते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है कि 'यह एक सौ रुपये की गड्डी है'। इसी तरह जब हम किसी ऊँचे शिखर से किसी शहर को देखते है तो नगरवासी, नदियां, गाड़ी, पेड़ इत्यादि स्पष्ट नहीं दिखाई देते हैं, पर सामग्रिक रूप से सब कुछ उस दृश्य में उपस्थित रहता है। लेकिन जैसे जैसे हम नीचे उतरते हैं, इस शिखरस्थ ज्ञान की पोटली खुलती जाती है, और वस्तुएँ स्पष्ट होने लगती है। परावाक्, जो दर्पणनगरन्याय की तरह सारे सांसारिक वैचित्र्य, जैसे घट पट आदि वस्तुओं को अपने में समेटे रहता है, उसी तरह सभी वर्ण परावाक् के गर्भ में पहले अस्फुट अवस्था में समाये रहते है, और पुनः उनका स्वरूप हमारे सामने धीरे धीरे स्फुटित होता रहता है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को समझने के लिए हमें एकबार प्रत्यभिज्ञा दर्शन को समझना पड़ेगा, जो काश्मीर शैवागम का ही अंग है। प्रत्यभिज्ञा शब्द का अर्थ है पूर्वपरिचित किसी अभिज्ञान में लौट जाना। दृष्टान्त स्वरूप कालिदास के "अभिज्ञानशाकुंतलम" में राजा दुष्यंत शकुंतला को भेंट दी गई अंगूठी को देख कर उसके साथ अपने गन्धर्व विवाह को स्मरण करने लगते हैं।

पूर्व में बनारस में देखे हुए देवदत्त को कलकत्ते में देख कर 'यह वही देवदत्त है, जिसे बनारस में देखा था' ऐसा स्मरण होने लगता है। अभिनय कला में दक्ष अभिनेता किसी अभिनय में ऐसा डूब जाता है कि वह स्वयं को उस पात्र के साथ तादात्म्य कर लेता है, और वैसी ही हरकते करना लगता है। लेकिन यदि उसे बारबार उसका असली स्वरूप स्मरण कराया जाय तो वह अपने सही स्वरूप को पहचानने में समर्थ हो जाता है। ठीक उसी तरह अपने 'शिवरूप' को भूल कर हम स्वयं को शिव से अलग समझ बैठते हैं, पर यदि हमें बार बार स्मरण कराया जाय कि 'तुम शिव स्वरूप हो' तो हम स्वयं को 'शिवोऽहं' कह कर पहचानने लगते हैं।

पुनः प्रत्यभिज्ञा दर्शन दो प्रकार से कार्य करता है प्रकाश और विमर्श। प्रकाश वह विशुद्ध चेतना है, जो शिव स्वरूप होती है, और प्रत्येक विषय की सत्ता को चेतनरूप में स्वीकार करते हैं। यह विशुद्ध चेतना सत् तो होती है, पर अपनी सत्ता के सम्बन्ध में सचेतन नहीं होती है। दूसरी ओर विमर्श का अभिप्राय है, विचार करना और विचार भाषा के बिना घटित नहीं हो सकता है। अतः विमर्श को वाक् का समार्थक कहना उचित ठहरता है। विमर्श के द्वारा प्रकाश सक्रिय हो उठता है। इस तरह प्रकाश और विमर्श का यह खेल निरंतर चलता रहता है। प्रकाश मार्ग दिखाता है और विमर्श भाषा के माध्यम से उस मार्ग को स्पष्ट करता है। विमर्श में गति उत्पादन की क्षमता है। अतः वाक् वर्णोच्चारण के रूप में कम्पन उत्पन्न कर विचारों को उन्मुक्त करता है। प्रकाशरूपी-शिव, एक चित्रकार की तरह, विमर्श की सहायता से जगत की सृष्टि विश्व-कैनवास पर उकेरता है, और अपनी पहचान को अंकित कर देता है। जिस तरह एक नृत्यांगना को उसके नृत्य

से पृथक नहीं किया जा सकता है, उसी तरह शिव-स्रष्टा को उसकी सृष्टि से पृथक नहीं किया जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन में 'विमर्श' का अर्थ है चित् को आत्मज्ञान कराना, अर्थात व्यक्ति जब अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है, तो उसकी सारी क्रियाएँ स्वाभाविक रूप से ज्ञान के अनुसार घटने लगती हैं। शिव-चेतना शक्ति के संस्पर्श से जाग्रत हो उठती है और तब वाक्-विमर्श का स्फुटीकरण आरम्भ हो जाता है, यानी हम अपने विचारों को भाषा के माध्यम से प्रकट करने में सक्षम हो जाते है। "मैं मोटा हूँ, दुबला हूँ" इत्यादि कहना 'अहं' का शुद्ध विमर्श नहीं है, तथापि प्रकाशरूप चिद्रूपता का परिचायक तो कहा ही जा सकता है, अन्यथा यह अभिव्यक्ति संभव नहीं होती। वास्तव में 'प्रकाश' और 'विमर्श' दो अलग वस्तुएं नहीं है, बल्कि एक ही वस्तु के दो पहलू है। दोनों का कार्य क्षेत्र अलग अलग होने पर भी अस्तित्व की दृष्टि से दोनों में ऐक्य या अभेद है।

सम्भवतः तन्त्रशास्त्र को ध्यान में रखकर निर्गुण शिव विशुद्ध चैतन्य और सगुण शिव शक्ति- उपाधि से युक्त होकर विश्व में एक संक्षोभ उत्पन्न करता है, जो नाद कहलाता है। नाद का क्रियाशील होना ही बिन्दु कहा जाता है। सिद्धान्ततः 'नाद' और 'बिन्दु' शिव और शक्ति के संयोग से ही उत्पन्न होने वाले एक तत्त्व हैं। जब साधक "पूर्ण अहन्ता स्तर" पर पहुंचता है, तो वह वाक् सत्ता में निवास करता है, जो निरंतर स्थूल से सूक्ष्म और कभी सूक्ष्म से स्थूल की तरफ सहज भाव से आवागमन करता है। यह स्थिति शब्दातीत चेतना की कही जाती है, जिसमें खुद कोई ध्वनि नहीं होती है, इसलिए इसे अनाहत नाद कहा जाता है। सृष्टि का मूल स्रोत यही अनाहत नाद है, जो बिना दो वस्तुओं की टकराहट से उत्पन्न होता है।

किसी विषय को व्यक्त करने की इच्छा जब मन में सूक्ष्म रूप से उपस्थित होती है, पर वह स्पष्ट आकार नहीं ले पाती है, तो उसे परावाक् का प्रथम स्तर अथवा **पश्यन्ती** कहा जाता है। जिस तरह किसी बोरे में अन्न को समेट कर रख दिया जाता है, तथा आवश्यकता पड़ने पर उसी में से हम अन्न-सामग्री निकाल लेते हैं, उसी तरह परावाक् में निहित वर्ण सामग्री से पश्यन्ती वाक् को आकार देना **मध्यमा** वाक् का कार्य है, जिसमें वाक् की

भेदावस्था का उन्मीलन आरम्भ हो जाता है। यहाँ इदंता का विमर्श ही प्रधान होता है, अर्थात 'यह करना उचित है, अथवा यह करना उचित नहीं है', इस तरह की अन्तःकरण वृत्तियाँ कार्य करना शुरू कर देती है। मानसिक जप इत्यादि अवस्था में देखा जाता है कि मन ही मन वाक् क्रिया चलती रहती है। इसी तरह जब हम हाथ हिलाकर बिना किसी शब्द को उच्चारण किये वस्तु का निर्देश करते हैं, तो ऐसी स्थिति आन्तराभिलाप की कही जाती है, जिसमें वाचन क्रिया के अभाव में भी संकेतित अर्थ स्पष्ट हो जाता है। मध्यमा वाकवृत्ति संकल्प, निश्चय और अभिमनन की ज्ञानशक्ति है, जिसका पल्लवित रूप है वैखरी है। इस तरह परावाक् – पश्यन्ति, मध्यमा, वैखरी के माध्यम से नानात्वस्वरूप जगत को प्रकट करने में समर्थ होती है। दैनन्दिन जीवन में इसका आभास हमें हरदम मिलता है, जब हम मुंह से बोल कर अपनी बात श्रोता के कानों तक पहुँचाने में सफल होते हैं। पश्यन्ती वाक् में कोई क्रम नहीं होता है, यहाँ सभी वर्ण गड्डमड्ड रूप में उपस्थित तो रहते है, पर हम उसे पृथक नहीं कर पाते हैं, जैसे बोरे में संगृहीत अन्न। बोरे को बिना खोले हम उसमें से अन्न को परिमाण अनुयायी निकाल नहीं सकते हैं, उसी तरह परावाक् में निहित वर्णों को हम अपनी जरूरत के अनुसार प्रयोग में लाते हैं। पश्यन्ती के बाद विकासोन्मुखी मध्यमा विकसित होती है, और अंत में वैखरीरूप में उसका बाह्य प्रसार कंठ, जीभ, तालु, होंठ आदि के द्वारा मुख से होता है, जो श्रोता श्रोत्रेंद्रिय से ग्रहण करता है।

इनमें पश्यन्ती इच्छाशक्तिरुपा है, मध्यमा ज्ञानशक्तिरुपा है और बैखरी क्रियारुपा है। परावाक् की धारणा सूक्ष्म स्तर पर सारे विश्व को एक सूत्र में बांधने का निमित्त बनती है, जो शब्दों के द्वारा प्रकट होकर श्रोता और वक्ता को आकार अथवा बिम्ब प्रदान करती है। इस तरह प्रकाश और विमर्श का उभयात्मक स्वरूप वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध को प्राप्त करता है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सृष्टि का मूल शब्द है। इस तरह शब्द-शक्ति से की गई पहचान विश्व सृष्टि की प्रक्रिया को समझने में मदद करती है। उदाहरण के लिए अहं शब्द में "अ" जो वर्णमाला का प्रथम अक्षर है एवं अव्यक्त

शिव का प्रतीक है, "ह" जो वर्णमाला का अंतिम अक्षर है और गतिशील विश्व का प्रतीक है, और इन दोनों की रहस्यमय मिलन-लीला अनुस्वार के द्वारा पूर्णता को उपलब्ध करती है। इस तरह सम्पूर्ण 'अहं' एक चिह्न के रूप में अर्धनारीश्वर का द्योतक भी कहा जाता है। इन दोनों का सम्मिलित स्वरूप शब्दों के माध्यम से विश्व जगत की गुत्थियों को सुलझाने में, अपने स्वरूप को समझने में, हमारे आवेग, व्यवहार, चिंतन को नियंत्रित करने में और उसे एक नया आयाम देने में सहायक होता है। शब्द की शक्ति असीमित है। अंत में गोरखनाथजी महाराज के शब्दों में –

सबदहि ताला, सबदहि कूंची, सबदहि सबद जगाया.

सबदहि सबद सूं परचा हुआ, सबदहि सबद समाया।

(शब्द ही ताला है, शब्द ही वह कुंजी है, जो शब्द के रहस्य को उन्मुक्त करती है. शब्द से ही शब्द (द्रष्टा और दृश्य का अभेद) का दर्शन होता है, और शब्द में ही शब्द समाहित हो जाता है)।

(दिसंबर ०६, २०२४)

२३

(भारतवर्ष संवाद प्रिय भूमि है। एक समय जहाँ बिना पूर्वपक्ष सुने खंडनपक्ष का सवाल ही नहीं उठता था, और उत्तरपक्ष अर्थात सिद्धांत पक्ष स्थापित करना तो बहुत दूर की बात होती थी, तब यह कलहपूर्ण, निरर्थक दलील, हुज्जत करने की परंपरा कहाँ से आई जिसे टीवी पर देखना हमारी दैनन्दिन चर्चा का हिस्सा बन गया है। श्रुति परंपरा की इस धरती पर जहां सुन-सुन कर ही इतने श्रेष्ठ ग्रंथों को और उनकी टीकाओं को कंठस्थ कर लिया जाता था, वहाँ समाचार टीवी चैनल्स पर इतनी स्तरहीन बहसें सुनना कभी-कभी तो किसी सज़ा से कम नहीं लगता। डॉ मधु कपूर ने इस लेख में भारत में संवाद और शास्त्रार्थ की परंपराओं को हमारे लिए सरल बनाया है ।)

संवाद, भाषा और तत्त्वबोध

दो विरोधी संवाद सामने कौंध जाते हैं — टीवी पर झायं झायं करते वक्ता जो बिना किसी निष्कर्ष के बहस समाप्त करके, मछली बाज़ार का एहसास देकर खड़े हो जाते हैं। दूसरी ओर सांय सांय करते हुए रास्ते पर पैर बढ़ाता बालक नचिकेता, जो पिता के द्वारा दान कर दिए जाने पर, यमद्वार पर खड़ा यम के साथ मृत्यु का रहस्य सुलझाने वाला संवाद करने के लिए कटिबद्ध। पहला निरर्थक और बौद्धिक प्रहसन, दूसरा सत्य से जूझता कथोपकथन।

सृष्टि का उद्भव ही वाद-संवाद से हुआ है। बृहदारण्यक उपिनषद् में सृष्टि कैसे हुई इस पर विचार करते हुए कहा गया है— सृष्टि के आरम्भ में परम पुरुष अकेला था। अकेला वह रम नहीं सकता था। इसलिए उसने अपने को दो में विभाजित कर दिया, और उसके साथ ही वाद और संवाद की शुरुआत हुई। भाषा ही साधारणत वाद-संवाद का वाहक कही जाती हैं। 'संवाद' शब्द 'वाद' शब्द में सम् उपसर्ग लगने से बना है, सम् का मतलब है समान और वाद का अर्थ बोलना। इस प्रकार संवाद सामान्य रूप से दो लोगों के बीच होने वाले विचारों की उलझन को एक व्यवस्थित रूप देता है। जैसे अर्जुन ने विषादग्रस्त होकर प्रश्न पूछा एवं श्री कृष्ण ने उत्तर दिया और गीता महात्म्य की उत्पत्ति हो गई। कृष्ण और अर्जुन के मध्य हुए इस संवाद को अद्भुत संवाद कहा गया है, "राजनसंस्मृत्य संस्मृत्य सम्वादिमममद्भुतम्।" यक्ष ने प्रश्न पूछा, धर्मराज ने उत्तर दिया, और हमें जीवन का सार उपलब्ध हुआ। देवर्षि नारद ने महाराज युधिष्ठिर से सवाल किया, तो युधिष्ठिर के जवाबों से हमें एक 'परिकल्पित सुशासन के सूत्र' प्राप्त हुए। जनक की सभा में ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य से जब ब्रह्मवादिनी गार्गी प्रश्न पूछती हैं, तब संसार के सामने इस विश्व जगत का रहस्य उन्मोचित हो गया। संवाद के प्रति यह भारतीय दृष्टि अत्यंत परिमार्जित हैं। संवाद के अभाव में न तो कोई समाधान मिल सकता हैं, और न ही कोई नये ज्ञान का सृजन हो सकता है, और लोकहित तो दूर की कौड़ी साबित होगी। शायद

इसी को ध्यान में रख कर एक प्रसिद्ध उक्ति अक्सर सुनी जाती है 'वादे वादे जायते तत्वबोध'। शंकराचार्य का दिग्विजय इसी वैचारिक अभियान की देन था। इस तरह कथा का सूत्र चल पड़ता है।

अमर्त्य सेन अपनी पुस्तक The Argumentative Indians में मानते है कि भारतवर्ष में वाद-विवाद की कला बहुत प्राचीन है, जिसकी शुरुआत समस्त संशय और आशंकाओं का निवारण हेतु सत्य को जानने के लिए हुई। प्राचीन भारतीय साहित्य में ऋग्वेद के संवाद-सूक्त के रूप में वाद-विवाद की एक बहुत ही जीवंत परंपरा थी, जिसे वाद विद्या कहा जाता था। इस परंपरा की प्राचीनता का पता बृहदारण्यक उपनिषद में राजा जनक के संवाद में मिलती है। कथा-लक्षण श्री माधवाचार्य द्वारा दार्शनिक वाद-विवाद की कला के बारे में रचित एक संक्षिप्त ग्रन्थ है, जो ब्रह्म सम्बन्धी तर्क पर आधारित है। श्री माधवाचार्य हमें उचित वाद-विवाद की विशेषताओं के बारे में बतलाते हैं।

वात्स्यायन ने अपने न्यायभाष्य में उल्लेख किया है कि किसी विषय पर विद्वानों का पारस्परिक वैचारिक आदान प्रदान 'कथा' कहा जाता है। जब यह विचार शुद्ध न्याय से तत्वनिर्णय के उद्देश्य से किया जाता है तो इसे 'वाद' कहते हैं। इसमें विचारकों के बीच जय-पराजय की कोई भावना नहीं होती है, जो एक निष्पक्ष और सम्मानजनक चर्चा होती है। इसलिए श्रीकृष्ण स्वयं को "कथाओं में वाद" कहते हैं।

प्रतिद्वंद्वी पर विजय प्राप्त करने के उद्देश्य से किए जाने वाले विचार को 'जल्प' कहा जाता है। जल्प में वादी और प्रतिवादी दोनों अपने-अपने पक्ष का साधन और परपक्ष का खंडन करते हैं, अपने विचारों और विश्वासों को दूसरों पर थोपने की कोशिश करते हैं। जल्प बहस का एक आक्रामक और विवादास्पद रूप है, जिसमें अक्सर एक गरमागरम बहस होती है। सत्य या समझ की तलाश करने के बजाय यह बहस जीतने पर जोर देती है। इस प्रकार का संवाद संघर्ष, विवाद और आपसी वैमनस्य को भी जन्म देता है।

वितंडा में केवल वादी ही अपने पक्ष के साधन का प्रयास करता है, प्रतिवादी वादी के पक्ष का खंडन करने में ही अपनी सार्थकता समझता है।

वितण्डावाद में किसी भी पक्ष को स्थापित करने की कोई मंशा नहीं होती है, इसमें केवल वक्ता को खण्डन करने और उसे परेशान करने की इच्छा प्रदर्शित होती है। इसमें न तो सत्य को जानने की इच्छा का प्रकाश होता है और न ही अपने पक्ष को स्थापित करने की प्रवृत्ति होती है। इसमें सिर्फ नकार और नाजायज जवाब जैसी चालाकी का उपयोग कर वादी पक्ष को छल-कौशल के द्वारा अपमानित करने की कला शामिल होती है। लेकिन तत्वनिर्णय के लिए "जल्प" और वितंडा की जरूरत इसलिये पड़ती है, क्योंकि इसी बहाने सिद्धांत की सत्यता का परीक्षण भी हो जाता है। जैसे बीज की रक्षा के लिए सब ओर से काँटेदार बेड़ लगानी पड़ती हैं, उसी प्रकार तत्त्वनिर्णय का इच्छुक व्यक्ति जल्प और वैतण्डिक के द्वारा उठाये गये तर्कों का खंडन करके, अपने पक्ष को मजबूत कर लेता है।

तत्त्वनिर्णय जिस न्याय की सहायता से किया जाता है, वह प्रमाणों के आधार पर किया जाता है— नीयते विवक्षितार्थः अनेन इति न्यायः अर्थात जिस साधन के द्वारा हम अपने विवक्षित तत्त्व के पास पहुँचते हैं, उसे न्याय कहा जाता है। न्यायभाष्यकार वात्स्यायन प्रमाणैर्थपरीक्षणं न्यायः अर्थात प्रमाणों के द्वारा सिद्धान्त का परीक्षण ही न्याय है— ऐसा कहते हैं। इस दृष्टि से जब कोई मनुष्य किसी विषय में कोई सिद्धान्त लेता है तो उसे न्याय सिद्ध अथवा प्रमाणसिद्ध होना चाहिए। अक्सर हम अदालतों में देखते है प्रमाण के अभाव में दोषी निरपराध छोड़ दिया जाता है।

वादी और प्रतिवादी में अपने पक्ष को स्थापित करने के लिए जीत-हार होने तक जो चर्चा होती है वह विजिगीषु-कथावाद कहलाती है और गुरु तथा शिष्य में अथवा रागद्वेष रहित विशेष विद्वानों में तत्त्व के निर्णय होने तक जो चर्चा चलती है वह वीतरागकथा भी कहते हैं। बौद्ध चीनी स्रोतों के साथ-साथ कथावत्थु जैसे पाली स्रोतों में वाद-विवाद आयोजित करने की कला में प्रशिक्षण भी दिया जाता है।

आजकल कथा का एक विशेष रूप लोकप्रिय हुआ है जिसमे सभी मतों को समान रूप से आदर करने की बात कही जाती है, चाहे वे कितने भी निराधार क्यों न हों। बेशक ऐसे कई लोग भी हैं, जो सत्य और तथ्यों को समझने की अपेक्षा बुरी मंशा से क्रोधित और ईर्ष्यालु होकर चर्चा में शामिल

होते हैं। विषय की गहराई को समझे बिना प्रतिद्वंद्वी के व्यक्तिगत चरित्र पर हमला कर, उसे बदनाम करने के लिए अथवा वास्तविक विषय को टालने के लिए अथवा वादी को विचलित करने के लिए इस तरीके को अख्तियार करते हैं, जो विवाद में परिणत हो जाता है। संवाद की महान परम्परा को हमने वाक्-युद्ध में अथवा हाथापाई में परिणत कर दिया है। संवाद आवश्यक है अन्यथा संवाददहीनता भी गणसंघर्ष का कारण बन जाती है, जैसाकि महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा—

संवादो धर्महेतुश्च संवादो धर्मलक्षणः ।

संवादो धर्ममूलं च संवादो धर्मसाधनम् ॥

(संवाद ही धर्म का हेतु है, संवाद ही धर्म का लक्षण है। संवाद ही धर्म का मूल है और संवाद ही धर्म की साधना है।)

लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में यह भी एक अड़ियलपने में परिवर्तित हो चुका है। संवाद की यह आक्रामक प्रवृत्ति अपना अर्थ खो बैठी है, लक्ष्यभ्रष्ट हो चुकी है। हम समाधान के लिए संवाद नहीं, स्वयं को सिद्ध करने के लिए कुतर्क करते हैं। अपनी-अपनी हांकते हैं, बहस सिर्फ जीतने के लिए होने लगी है। समाधान कुछ दिखाई नहीं देता है। हम भूल जाते हैं कि यह संवाद ही है जो समाज को दिशा देता है, पर आज यही कलहपूर्ण संवाद-प्रवृत्ति समाज को दिग्भ्रांत कर रही है। बहस की जिस संस्कृति को बढ़ावा दिया जा रहा है, वह न केवल विरोध को जन्म दे रही है. बल्कि चिंतन की जो हमारी थाती थी उस पर भी बेवजह बौद्धिकता लाद कर उसकी समृद्धि को अवरुद्ध कर रही है।

मशहूर डच भाषाविज्ञानी और दार्शनिक फ्रिट्स स्टाल ने पाणिनी की रचना अष्टाध्यायी की तुलना यूक्लिड के ज्यामिती के सिद्धांतों से की और भारतीय ज्ञान परंपरा को एक श्रेष्ठ आधार कह कर प्रशंसित भी किया। ऋग्वेद के १०वें मंडल का यह १९१वां सूक्त सबकी अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाले अग्निदेव से आपसी मतभेदों को भुलाकर सुसंगठित होने की प्रार्थना करता है –

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्....
समानी व आकूतिः समाना हृदयानी वः.
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

(परस्पर साथ-साथ चलें। परस्पर स्नेहपूर्ण संवाद करें। सबके मन एक हो, सब मिलजुल कर ज्ञान प्राप्त करें)।

(दिसंबर २३, २०२४)

२४

नार्धं न चावयवशो नैकैकं न च सर्वशः।
कश्चित्कस्यचिदवयव्युपलभ्यते॥"

(न तो वस्तु का आधा भाग, न ही एक-एक अवयव पृथक रूप से और न ही सारे अवयव मिलकर सामूहिक रूप से सम्पूर्ण अवयवी वस्तु का प्रत्यक्ष कराने में सक्षम होते हैं ।)

भाषा दर्शन - क्या अर्जुन ने पक्षी की सिर्फ आँख देखी?

अर्जुन प्रतीक्षा कर रहा था गुरु द्रोणाचार्य के निर्देश की। गुरु के सामने आज वह प्रमाणित करना चाहता था कि वह सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर है। गुरु ने बारी बारी से सभी कौरवों और पाण्डवों से पूछा उन्हें पेड़ पर क्या दिखाई दे रहा है? एक एक कर सभी सामने आये, किसी ने पक्षी के पंख देखे, किसी ने गर्दन और किसी ने पक्षी की पूंछ और किसी ने समूचा पक्षी ही देखा। यही प्रश्न जब अर्जुन के सामने दोहराया गया तो उसका जवाब था – "सिर्फ पक्षी की आँख।" फड़फड़ाती पेड़ की पत्तियां, हवा का झोंका, जंगल में बहती क्षीण आवाजें, यहाँ तक की पक्षी का शरीर भी उसे दिखाई नहीं दे रहा था। दिखाई दे रही थी केवल पक्षी की आँख और सिर्फ एक आँख। अर्जुन की सांसे थम गई, दिमाग शांत हो गया। उसे तीर छोड़ने का आदेश मिला। उसने प्रत्यंचा चढ़ाई और शर विद्ध (पक्षी का) कर दिया। अर्जुन ने अपनी कला का प्रदर्शन सिद्ध कर दिया।

प्रश्न यह नहीं है कि अर्जुन ने क्या देखा और बाकी पांडवों ने क्या देखा है? प्रश्न है अर्जुन ने सिर्फ आँख कैसे देखी? क्योंकि हम जानते है पक्षी का अपनी आँख के साथ अंगागिभाव सम्बन्ध होता है। अर्थात पक्षी स्वयं में सम्पूर्ण अवयवी है, आँखें तो सिर्फ एक अवयव है। पक्षी एक अवयवी है। बिना पक्षी को देखे उसकी आंखें कैसे देखी जा सकती है —यह एक गंभीर और गहरे विवाद का विषय है, जो शताब्दियों से चला आ रहा है। दार्शनिकों का यह प्रिय शगल भी है। क्या सचमुच कोई किसी वस्तु को बिना देखे उसके किसी एक अंग को देख सकता है? अंग (अवयव) और अंगी (अवयवी) का सम्बन्ध इतना सहज नहीं है जितना दिखाई देता है। पक्षी की समग्रता उसके सभी अंग अर्थात आँख, पंख, पूंछ इत्यादि पर निर्भर करती है, अथवा पक्षी (अवयवी) अवयव में ही आश्रित होता है, जैसा

कि हमारे प्रयोग से स्पष्ट है, ‘गाय की पूंछ’ या ‘वृक्ष की शाखा’ इत्यादि। अतः बिना गाय को देखे उसकी पूंछ को देखना नामुमकिन है।

सवाल यह भी है — क्या समग्रता में किसी वस्तु को देखा जा सकता है? शायद नहीं. मानवीय सीमितताएँ समग्रता में किसी वस्तु को देखने में सर्वदा असमर्थ होती है। हम क्रमशः वस्तु के एक एक हिस्से को देखते हैं और फिर धीरे धीरे समग्र वस्तु का भान हमें होता है, पर देखते नहीं हैं। हमें यह भी मालूम है कि समग्र यानी अवयवी अवयवों से बड़ा होता है। जब अर्जुन कहता है ,’उसे सिर्फ चिड़िया की आँख ही दिखाई दे रही है’, तो उसका यह कथन कुछ असम्पूर्ण नज़र आता है, क्योंकि बिना पक्षी को देखे वह उसकी आँख कैसे देख सकता है?

साधारणतः किसी भी वस्तु को समझने का तरीका है उसका विश्लेषण करना अर्थात उसे छोटे छोटे खण्डों में विभक्त करके देखना। जिस तरह डॉक्टर शरीर को समझने के लिए उसके बिभिन्न अंगों के कार्य कलापों को अलग अलग समझ कर कोई विशेष अंग का विशेषज्ञ कहलाने लगता है। लेकिन तकलीफ समझ में न आने पर वह दूसरे अंगों के साथ उसके सम्बन्ध की भी जाँच करता है। उसी तरह किसी वस्तु को समझने का एकमात्र उपाय होता है उसे न्यूनतम परमाणु स्तर तक जाकर उसे समझने का प्रयास करना, पुनः समग्र पर लौटना।

सीधे सीधे यदि कहूँ तो पक्षी भी अपने न्यूनतम अवयवों यानी परमाणुओं का संघात मात्र ही होता है। चूँकि अणु अतीन्द्रिय होते है, जाहिर है उनका समूह भी अतीन्द्रिय ही होना चाहिए और ऐसी अवस्था में पक्षी क्या, पक्षी की आँख भी प्रत्यक्ष नहीं होगी। पक्षी के अदृश्य परमाणुओं से दृश्य परमाणुपुंज का उदय कैसे हो सकता है? उत्तर में यही कहा जा सकता है परमाणु भले ही आँखों से नहीं देखे जा सकते हो पर उनका समूह तो देखा जा सकता है। जैसे दूर स्थित एक केश भले ही प्रत्यक्ष न हो, परंतु जब केशों का समूह हमारे नेत्रों के सामने उपस्थित होता है, तब उसका प्रत्यक्ष अवश्य ही सिद्ध हो जाता है। व्यवहार में भी इसका प्रत्यक्ष उदाहरण मिल जाता है। दूर से सेना की टुकड़ी के सैनिकों का प्रत्यक्ष यद्यपि नहीं होता है,

पर सेना समूह का तो प्रत्यक्ष हो जाता है। नजदीक आने पर केश भी प्रत्यक्ष हो जाता है, सैनिक भी प्रत्यक्ष हो जाता है।

पुनः मान भी लिया जाय कि पक्षी परमाणुओं का समूह होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं हो सकता था, तब भी लोकव्यवहार इसके विपरीत 'पक्षी' का प्रत्यक्ष अनुभव करता है — ऐसा मानता है। अतएव अवयवों से भिन्न अवयवी की एक स्वतंत्र सत्ता मानना ही तर्क संगत होगा, जो अवयवों में रहते हुए भी है, उससे पृथक होता है।

लेकिन यह अवयवी रहता कहाँ है? दृष्टांत स्वरूप पक्षी को आँख, पूंछ, पंख, गर्दन आदि को अणु खण्डों में बाँटने के पश्चात् वस्तुत पक्षी-(अवयवी) की स्वतंत्र सत्ता तो बिसर जाती है, क्योंकि पक्षी का पंख पक्षी नहीं कहा जा सकता है, पक्षी की चोंच पक्षी नहीं कहा जा सकता है, इसी तरह अन्यान्य अंग में भी पक्षी नहीं रह सकता है तो पक्षी, जो एक स्वतंत्र वस्तु है, कहाँ रहता है? अवयवों में जब वह अलग अलग नहीं रहता है, तो उनके समूह में उसका तालमेल कैसे बैठता है, उनका आपसी सम्बन्ध क्या है? इतनी आसानी से समस्या नहीं सुलझ सकती है। दार्शनिक तो इस बहस में उथल पुथल ही मचा डालते हैं।

एक उदाहरण से बात को स्पष्ट किया जा सकता है— जैसे वस्त्र जिन धागों से निर्मित होता है उससे भिन्न नहीं होता है, लाल धागों से बना वस्त्र लाल ही होता है। पर वस्त्र की सत्ता धागों से पृथक होती है, क्योंकि वस्त्र जिस तरह शरीर ढकने के काम आता है, धागे उस कार्य को करने में समर्थ नहीं होते हैं। अतः धागों से पृथक एक नई सत्ता वस्त्र की स्वीकार करनी पड़ती हैं। वस्त्र धागों का रूपान्तर है और उसकी सत्ता भी स्वतंत्र है। वस्त्रों का कारण यद्यपि धागे ही है, किन्तु धागे वस्त्र नहीं कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनकी बुनावट में ही वस्त्र की सत्ता निहित है। यदि शरीर के अवयव और अवयवी अभिन्न होते तो शरीर के एक हाथ में कंपन होने पर पूरे शरीर में कंपन होना चाहिए, क्योंकि अवयव और अवयवी अपृथक होते हैं। लेकिन इसके विपरीत देखा जाता है, शरीर का दूसरा हाथ अकंपनशील ही बना रहता है, क्योंकि दोनों भिन्न है। दूसरी ओर अवयव और अवयवी को पृथक भी कहना पड़ता है, क्योंकि शरीर के विभिन्न अंगों का कार्य भिन्न भिन्न होता है।

वास्तव में इसमें कोई विरोध नहीं दिखाई देता है, क्योंकि अंग और अंगी की गति भिन्न होने पर भी आश्रय तो एक ही है।

लोकव्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि वस्तु को समग्र रूप से हम प्रत्यक्ष करते है, जैसे 'यह टेबल है', 'यह किताब है', 'यह पेड़ है' इत्यादि। यहाँ तक की दुमकटे श्वान को श्वान ही कहा जाता है, उसका सत स्वरूप नहीं बदलता है। इसके अतिरिक्त अनुभव में अक्सर ऐसा देखा जाता है कि पानी में डूब जाने के बाद तैराक का सिर्फ सिर देख कर हम पहचान लेते है कि 'यह अमुक व्यक्ति है। और तो और परमाणु की सत्ता भी तभी स्वीकार की जा सकती है, जब उसके पूर्व किसी वृहत परिमाण वाला अवयवी पदार्थ स्वीकार किया जाय, अन्यथा उसका विभाजन परमाणुओं में कैसे किया जायेगा?

तो उसके लिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि ये सभी शब्द काल्पनिक नाम मात्र है। नाम के द्वारा निर्देशित वस्तु की कोई भौतिक सत्ता प्रत्यक्ष नहीं होती है। वास्तव में वृक्ष का सम्मुख भाग प्रत्यक्ष होने पर भी पिछला भाग अप्रत्यक्ष ही रह जाता है, ऊपरी भाग प्रत्यक्ष होने पर भी अधो भाग अप्रत्यक्ष ही रह जाता है। शाखा, काण्ड, पत्र, पुष्प जो वृक्ष के अवयव है, उनका समूह कभी भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, और जब प्रत्यक्ष ही नहीं हुआ तो कुछ वृक्ष के अवयवों—कांड, पत्र, पुष्प और तना इत्यादि के आधार पर हम अवयवी वृक्ष का न तो अनुमान कर सकते है और न ही प्रत्यक्ष कर सकते है कि 'यह वृक्ष है'।

इसे प्रत्यक्ष का विरोधाभास भी कहा जा सकता है। एक ओर बिना समग्र पक्षी को देखे सिर्फ उसकी आँख नहीं देखी जा सकती है, दूसरी ओर शर-संधान का लक्ष्य सिर्फ आँख थी, जो पक्षी से पृथक देखी जा रही थी। इस विरोधाभास का समाधान यही हो सकता है कि पक्षी की आँख पक्षी का ही अंग विशेष है, जो सम्पूर्ण पक्षी को समझने में खिड़की का काम करता है। एकमात्र अर्जुन ही उस ध्यान की स्थिति में था जहाँ वह समग्र से पृथक कर सिर्फ पक्षी की आँख देख रहा था। फिलहाल उसे ही तीर चलाने का अवसर दिया गया, बाकी सभी कौरव और पांडव चंचल मन होने के कारण प्रतियोगिता से ख़ारिज कर दिए गये।

कहना न होगा कि समग्र अपना घूंघट धीरे धीरे उठाता है और अंत में अपने को सम्पूर्ण उजाड़ कर रख देता है। अविश्वसनीय है, पर सत्य है। यह अनहोनी घटना हरदम, हर क्षण हमारे साथ घटती है और घटती रहेगी। हमें इस रस्साकसी के बीच मृदु संतुलन बनाने का प्रयास करना पड़ता है, उस नट की तरह जिसे अपनी कला में महारत हासिल है ताकि वह रस्सी से फिसल न पड़े।

पाठकों, इतना दीर्घ प्रसंग हमें भाषा दर्शन का छोर पकड़ने में मदद करेगा, यह उसी सुखद संगीत का पूर्वाभास है।

(जनवरी ०७, २०२५)

२५

यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
तद्गतं यत्सुखं शान्तं तच्छून्यं विद्धि योगतः॥

(जहाँ वाणी मन के साथ पहुँचने में असमर्थ होकर लौट आती है, उस अंतराल में जो विश्रांति है वही 'शून्य' है जिसे योग के माध्यम से महसूस किया जाता है।)

दो शब्दों के बीच शून्य स्थान की अहमियत

पिछले लेख में अवयव और अवयवी के सन्दर्भ में हमें एक विचित्र परिस्थिति का सामना करना पड़ा, जिसमें यह विचार करना कुछ कठिन हो रहा था कि अवयवी अवयवों का समूह है अथवा उससे भिन्न कुछ है। गाय की सींग, कुत्ते की पूंछ, मिट्टी का घट इत्यादि जब हम कहते हैं, तो हम पहले से मान कर चलते हैं कि गाय और कुत्ता, घट आदि अवयवी है तथा उनके सींग, पूंछ और मिट्टी अवयव है। अथवा हम यह भी मान सकते हैं कि अवयवों के समूह यथा पूंछ, आँख, सास्नादि अवयवों में गाय (अवयवी) अवस्थित रहती है। दर्शन चर्चा में मुख्यतः यही सवाल 'शब्द, वाक्य और अर्थ' के संदर्भ में भी उठता है।

बाबा ने कहा 'पानी' और पुत्र समझ जाता है 'पानी लाओ' एक ही शब्द से पूरा वाक्य समझ में आ जाता है। लेकिन पुत्र प्रश्न पूछ सकता है 'पानी किसलिए'? पीने के लिए, या हाथ धोने के लिए, कुल्ला करने के लिए या खिड़की बंद करने के लिए क्योंकि पानी बरस रहा है। ऐसे प्रसंगों में अक्सर पूरे वाक्य का उच्चारण करना पड़ता है। इस तरह वाक्य, 'पदों का वह सार्थक समूह' होता है, जो भावों की अभिव्यक्ति के लिए भाषा की सूक्ष्मतम इकाई माना जाता है।

प्रश्न है वाक्य के द्वारा प्रेषित अर्थ पदों के समूह में एकत्रित होकर रहता है अथवा पदों के समूह से भिन्न कुछ होता है। यूँ तो पदों का विभाजन संज्ञा, क्रिया, विशेषण, कारक, विभक्ति, वचन, लिंग, काल, पुरुष आदि में किया जाता है, पर विचारों की पूर्ण अभिव्यक्ति पदों से नहीं होती है। जैसे 'व्यायाम', 'कल्याण', 'पढना' कहने से अर्थबोध तब तक नहीं होता है, जब तक हम यह न कहें कि 'वह प्रतिदिन व्यायाम करता है', 'रमेश पढ़ता नहीं है', 'तुम्हारा कल्याण हो !' कुछ अपवादों के सिवाय जैसे 'श्रोत्रिय' शब्द के द्वारा पूरे वाक्य का अर्थ बोध होता है, यथा 'जो वेद पढता है'। कुछ विचारक

मानते हैं कि वाक्य की अपेक्षा पदों को प्रमुखता देनी चाहिए क्योंकि पदों का अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है, और वाक्य को पदों का संयुक्त रूप ही कहा जाना चाहिए।

कुछ अन्य लोगों के अनुसार वाक्य ही प्रमुख होता है, पदों का यथार्थरूप तो वाक्य के द्वारा ही व्यंजित होता है। जब कोई पद वाक्य में प्रयुक्त होता है, तो उसका अर्थ निकट रहने वाले पद के द्वारा नियंत्रित हो जाता है। जैसे, 'पानी' शब्द का अर्थ निर्भर करता है 'लाओ' शब्द के ऊपर और यदि श्रोता पूछे 'क्या लाओ' तो इसका उत्तर मिलता है 'पानी'। इस तरह वे परस्पर सम्बन्धित होकर वाक्य बोध करवाते हैं। इस सिद्धान्त को नष्टाश्व-दग्धरथ न्याय की मदद से समझा जा सकता है। इस न्याय के अनुसार दो प्रवासी अलग-अलग घोड़ागाड़ी से यात्रा पर जाते हैं। दोनों रात एक सराय में रुकते हैं। रात उस सराय में आग लग जाती है, जिससे एक का घोड़ा भाग गया और दूसरे का रथ जल गया। अब दोनों ही आगे जाने में असमर्थ हैं। दोनों ने एक दूसरे की सहायता की – एक के रथ में दूसरे के घोड़ों को जोत कर, उन्होंने अपनी यात्रा पूरी की।

पर प्रश्न उठता है वाक्य में निहित पदों का आपसी सम्बन्ध क्या होता है, जो वाक्य को पूर्ण बनाता है? पदों का उच्चारण या उनका समूह पर्याप्त नहीं होता है, जैसे 'हाथी, घोड़ा, पानी, किताब' – पद समूह है पर इसे वाक्य नहीं कहा जा सकता है। वस्तुत: वाक्य तो मकान की तरह होता है, जिसके अवयव ईंट, बालू, सीमेंट इत्यादि होते हैं। ईटों का ढेर मकान नहीं होता है। वे स्वयं में अपूर्ण होते हैं। धागा, सूई, मशीन, कपड़ा,.कैंची, कपास के गट्ठर को वस्त्र नहीं कहा जा सकता है, जब तक उनके अंतर्गत पारस्परिक सम्बन्ध न हो। मिट्टी के ढेर को घट या घड़ा नहीं कहा जा सकता है, उनमें एक विशेष प्रकार की रचनात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न पदार्थ को घट कहा जाता है। कच्ची सब्जी, मसाला इत्यादि सामने रख देने से खाना नहीं बनता है, उसे कैसे पकाया जाय ताकि वह खाने लायक बन सके अर्थात उनका आपसी सम्बन्ध क्या है – यह एक गंभीर सवाल है।

पृथक पृथक पदों के द्वारा उपस्थित पदार्थों से वाक्यार्थ बोध नहीं हो सकता है, उनके समन्वित रूप में ही वाक्यार्थ की समाप्ति है। जिस तरह चार

संख्या १+१+१+१ का योग है, लेकिन मजे की बात है कि योग करना एक प्रक्रिया है जो चारों 'एक' में पृथक पृथक नहीं है, अपितु चारों में समुदित रूप से है। लेकिन यह कैसे हो सकता है कि जो चारों में पृथक पृथक रूप से नहीं है, वह उनके समूह में है। हाईड्रोजन की दो मात्रा और आक्सीजन की एक मात्रा का सम्मिश्रण 'पानी' एक नए पदार्थ को जन्म देता है। यद्यपि अलग अलग रसायनों में पानी नहीं है, लेकिन उनके संयोजन से पानी बन जाता है। उसी प्रकार अलग अलग पदों में वाक्य न होने पर भी, उनके समूह में वाक्य की उपस्थिति एक पृथक सत्ता के रूप में रहती है। दृष्टान्त स्वरूप मित्रता एक सम्बन्ध होने पर भी मैत्री सम्बन्ध दो मित्रों के समुदाय में रहती है, किसी एक में नहीं।

पदों के क्रम से उच्चारण करने के पश्चात् वाक्य की उत्पत्ति होती है। 'मुझे प्यास लगी है' यह वाक्य एक सम्पूर्ण इकाई है, जिसमें एक निश्चित क्रम है जिसे व्याकरणिक नियमों के अनुसार आगे पीछे नहीं किया जा सकता है (कुछ अपवादों को छोड़ कर, यथा कविता इत्यादि में)। लेकिन पद तो क्रम से अपने अर्थ की प्रतिपत्ति करा के तिरोहित हो जाते हैं, क्योंकि क्रम का सम्बन्ध तो काल से हैं। उनका समूह कैसे उत्पन्न हो सकता है? एक शब्द को सुनकर एक अर्थ का ही बोध होगा पूर्ण वाक्य का नहीं। यदि एक पद से पूर्ण वाक्य का बोध होने लगे तो बाकी पद निरर्थक हो जायेंगे। कहा जा सकता है कि सभी पद अपने अर्थ का बोध कराके निवृत्त हो जाने पर भी अपने अपने संस्कार अंतिम वर्ण में संक्रमित कर जाते हैं। यह प्रक्रिया कुछ वैसी ही है, जैसे एक व्यक्ति का शोक या हर्ष दूसरे में संक्रमित हो जाता है। अन्तिम शब्द को सुन कर पूर्व के उच्चारित सभी अर्थ स्मरण होकर उसकी पीठ पर लद कर वाक्यार्थ बोध तक पहुंचा देते हैं।

वाक्य में निहित पदों की महत्ता वाक्य के लिए है, उनकी अपनी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती है। 'देवदत्त डंडे से गाय को हांक लाओ' इस वाक्य को सुनने के पश्चात् ही श्रोता को वाक्यार्थ का पृथक बोध होता है, जो उसे गाय को हांकने में मदद करता है। नृसिंह के नर और सिंह के अवयव अलग अलग होने पर भी उनका बोध 'नृसिंह' एकत्व रूप में ही होता है। षड्ज,

ऋषभ गांधार स्वर पृथक पृथक होने पर भी मालकोश राग में सम्मिलित रूप से उपस्थित होकर एक अद्‌भुत रस-भाव उत्पन्न करते हैं।

दृष्टान्तों की कमी नहीं है। चित्र एक अखण्ड इकाई होता है, जिसका ज्ञान होने के बाद हम उसमें अलग अलग रंगों का विश्लेषण कर सकते हैं। इसी तरह वाक्य में पदों का विभाग प्रकृति प्रत्यय आदि रूप में काल्पनिक और असत्य होता है। पदों का विभाजन वर्ण में होता है। वर्णों के भी अवयव होते है, उनके भी अवयव, इस प्रकार परमाणु तक अवयव मानने पड़ेंगे। वृषभ में वृ-ष-भ वर्णों का कोई अर्थ नहीं है, यह विभाजन सिर्फ लोक व्यवहार के लिए होता है। 'नागकेशर' शब्द में 'नाग' और 'केशर' पृथक पृथक अर्थ का बोध नहीं कराते हैं, यह स्वयं में एक पूर्ण पद है। अवयव अपने अर्थ को समग्र वाक्य के खातिर समर्पित कर देते हैं। कहने का तात्पर्य है कि वाक्य असल में निरवयव, पूर्ण और अखंड होता है घट की तरह सम्पूर्ण इकाई। हम अपनी सुविधा के लिए उसे पदों या अवयवों में विभक्त कर देते हैं और उनका आपस में सम्बन्ध जोड़ कर विलक्षण वाक्य की सिद्धि करते हैं। दो शब्दों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्रकरण, वक्ता की विवक्षा आदि कुछ हद तक ही सहायक होते हैं ।

वस्तुतः शब्दों की संख्या सीमित होती है, पर वाक्य अनंत होते है। प्रतिदिन प्रतिक्षण थोड़े से शब्दों से ही नए नए वाक्यों का सृजन हम करते चलते हैं । वाक्यार्थ पदार्थ का वह संसर्ग रूप है, जो वाक्यार्थ की प्रतिपत्ति में मदद करता है, किन्तु उस प्रतिपत्ति का कोई निश्चित रूप नहीं होता है। इसे स्पष्ट करने के लिए वैयाकरण पानक रस का उदाहरण देते हैं। पानक-रस-षाड्व शरबत है, जो विलक्षण रस (मधुर, अम्ल, तिक्त, कटु, कषाय रसों का मिश्रण) को उत्पन्न करता है।

विभिन्न पदों को विच्छिन्न रूप से ग्रहण करने पर भी वाक्यार्थ ज्ञान को ग्रहण करने की क्षमता एक विलक्षण प्रतिभा है, जो पदार्थ बुद्धि से अतिरिक होती है। जिस तरह पक्षियों में घोंसला बनाने की प्रवृत्ति, मछलियों में तैरने की प्रवृत्ति किसी शिक्षण से प्राप्त नहीं होती है, वैसे ही भाषा ग्रहण करने की क्षमता एक ऐसी सहजात प्रतिभा है, जो शब्दों की तह में बसे अर्थों को गोता लगा कर सतह पर लाने में कामयाब हो जाती है। उदाहरण के लिए 'अंगुली

की नोक पर सौ हाथियों का झुण्ड बैठा है' – वाक्य वास्तविक दृष्टि से अव्यावहारिक होने पर भी अर्थ उत्पादन की सामर्थ्य से हमें वंचित नहीं करता है।

(जनवरी २४, २०२५)

२६

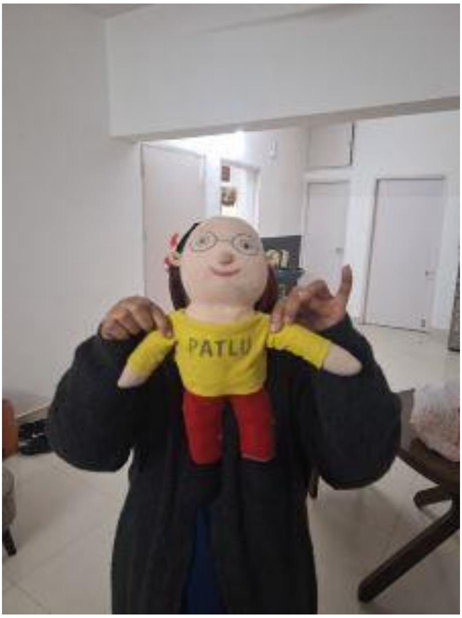

कुल्लूपमं वो, भिक्खवे, धम्मं देसेस्सामि नित्थरणत्थाय, नो गहाणत्थाय। (मज्झिम निकाय, अलगाद्दूपम सुत्त)

(हे भिक्षुओं! मेरा उपदेश एक नौका के समान है, जो नदी पार करने के लिए है, उसे सिर पर ढोकर घूमने के लिए नहीं। जब कार्य सिद्ध हो जाए, तो इस सेतु या शब्दों को भी छोड़ देना चाहिए।)

कथ्य सेतु भी है और अवरोध भी

मैं रास्ते से गुजर रही थी, तो सामने क्या देखा — दो व्यक्ति आपस में झगड़ रहे थे। पहला व्यक्ति दूसरे से कोई फ़िल्मी डायलाग के लहजे में कह रहा था, "कुत्ते! मैं तेरा खून पी जाऊंगा!" मैंने सोचा यह 'कुत्ते का खून' पीने की धमकी दे रहा है। क्या यह दूसरा व्यक्ति सचमुच में कुत्ता है? असली कुत्ते से क्या कोई ऐसी बात कहने की हिमाकत कर सकता है? और यदि कह भी दे तो क्या कुत्ता समझेगा? जो कहना था या जो वह कहना चाहता था, वह कह नहीं पाया, जो कहा गया, वह समझा नहीं गया, जो समझा गया वह कहीं मन की गहराई में दबा रह गया और उसे भाषा द्वारा समझाया नहीं जा सका।

इस तरह जो भाषा हम बोलते हैं, वह एक मृत इकाई है। इसमें 'मीठा' कहने से मुंह मीठा नहीं होता है, 'चाकू' कहने से मुँह नहीं कट जाता है और ना ही 'आग' कहने से मुंह जलता है। इसलिए बोली हुई भाषा में सच्ची कहानी मत खोजे। 'कुत्ता' एक पशु है, जो काटता है, भौंकता है, पैर भी चाटता है। इन अर्थों की बंदिशों को पार करके शब्द के निर्धारित अर्थ से जब हम कुछ अतिरिक्त कहना चाहते हैं, तो लोग इस तरह के शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे 'दिल बल्लियों उछलने लगा' जो आनंद की अनुभूति को दर्शाता है। 'थोथा चना बजे घना', अहंकार की अभिव्यक्ति करता है।

तो आज जो मैं भाषा का किस्सा कहूँगी वह किसी भी सृजनशील शिल्प और कला पर लागू होता है। चाहे वह वर्णमाला हो, चाहे रंगों का खेल हो, चाहे सुरों का मेल हो, चाहे नृत्यमुद्रा ही हो, जहाँ तथाकथित व्याकरण के नियम और आभिधानिक अर्थों से अलविदा लेनी पड़ती है। 'कुत्ता' कहने वाले व्यक्ति के लिए कुत्ता महज एक शब्द रह गया है, उसका गुस्सा, कोश-में उल्लिखित, 'कुत्ता' शब्द अपने नाम और रूप से विदा ले चुका है। वह ऐसा कुछ सत्य खोज रहा है, जिसे वह व्यक्त करना चाहता है, पर उसे शब्द नहीं मिलते हैं, तो वह 'कुत्ता' नाम के परिचित शब्द से काम चला कर अपने गुस्से की बौछार कर देता है।

भाषा की सबसे गहरी परत को भारतीय दर्शन में '**पश्यन्ती**' कहा जाता है, जहाँ शब्द और अर्थ एकदम असंपृक्त अवस्था में रहते है, और वर्णात्मक भाषा फूट कर बाहर निकल नहीं पाती है। शोक, क्रोध और प्रेम की यह भावात्मक भाषा है। धीरे धीरे इस स्थिति से उबर कर मध्यमा-भाषा स्तर का उदय होता है, जो वर्णात्मक वाक् की चादर ओढ़े 'क्षोभ, प्रेम, कष्ट' इत्यादि अनुभूतियों को शब्दों के माध्यम से स्पष्ट करने लगती हैं, जो विषय-विषयी रूप में विभक्त हो जाती है। फिर यही सूक्ष्म भाषा बैखरी के रूप में मुख से बिखर पड़ती है, जो हम दूसरों तक पहुँचाने में सक्षम हो जाते हैं। यद्यपि दूसरों की अनुभूतियों को हम ग्रहण तो कर लेते है, पर उसके गहन भाव तक हम पहुँच नहीं सकते हैं। वक्ता और श्रोता के बीच इस खाई को पाटने का काम कोई भी भाषा-सेतु नहीं कर सकता है।

इस तरह वर्णात्मक भाषा अनुभूति की भाषा को वस्त्र पहनाने का कार्य करती है, जो कहीं गहरे में छिपी रहती है। अर्थात अंतर में छिपी इस भाषा का अनुवाद हम कभी वर्ण, कभी कलाकृति, कभी कविता, कभी सुर, कभी रंग इत्यादि के माध्यम से उजागर करते हैं। यहाँ बना बनाया कुछ नहीं होता, सब कुछ बन रहा होता है, जो हमारे अन्दर घट रहा है। हाईडेगर के शब्द उधार लेकर कहूँ तो भाषा हमारा घरौंदा है, जिसमें हम निवास करते हैं। दृष्टान्तस्वरूप 'कुआँ' शब्द एक मृत रूपक है, लेकिन 'उसे बचाओ, वह कुएँँ में कूद पड़ा है'—यह वाक्य कुएँ में नई जान फूंक कर श्रोता को आगाह कर देता है। जिस तरह घोंघा कभी-कभार अपने खोल से बाहर निकल कर रेंगने लगता है, और दुनिया के साथ अपना सम्बन्ध कायम करता है। पर ऐसा करके वह दुनिया के साथ कोई पहली बार नहीं जुड़ता है, क्योंकि यह रिश्ता तो पहले से ही उसके खोल के अंदर था, जिसमें वह सुकून महसूस करता था। इसी तरह वक्ता जब बोलता है, तो खुद को बोलते हुए भी सुनता है, और बोलने के पहले भी अन्तर्निहित भाषा को सुनता है। जिस तरह किसी विवादास्पद विषय पर बात करते समय हम केवल वही नहीं सुन रहे होते जो हम कह रहे हैं या दूसरा पक्ष कुछ कह रहा है, बल्कि उसे भी सुन रहे होते हैं, जो हमारे भीतर बैठा वक्ता बोल रहा होता है, बाहरी वक्ता तो महज एक स्थूल वक्ता होता है।

साधारणत हमारी धारणा है कि भाषा का कार्य सूचनाओं का तथ्यगत सम्प्रेषण करना होता है। लेकिन कोई भी सृजनशील लेखन व्याकरणिकता की सीमा का अतिक्रमण कर नए नए शब्दों और अर्थों को गढ़ता है, जिसका उद्देश्य सौंदर्य संतुष्टि के साथ साथ स्वयं को उपलब्धि करने की चाह भी रहती है। अगर किसी व्यक्ति में कलाकार बनने की ललक है, तो इसकी वजह यह है कि उसे खुद को खोजने की अभिलाषा है। कला के माध्यम से वह जीवन की सम्भावनाओं को, संघर्षों को, जीवन-मृत्यु के रहस्यों को कुछ विश्वसनीय तरीके से खोजने की आवश्यकता को महसूस करता है। कलाकार के लिए भाषा कोई इतिहास का तथ्यात्मक दस्तावेज़ नहीं होता है, उल्टे उन ऐतिहासिक तथ्यों को मुआवज़े सहित कला के रूप में वापस करना होता है। उदाहरण के लिए हिटलरकालीन घटनाओं को साहित्य या फिल्म किसी भी कला के माध्यम से धरोहर के रूप में सुरक्षित करना एक आत्मिक 'प्रतिक्रिया' है, अर्थात स्वयं को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया है।

ऑस्टिन के सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि भाषा उनके लिए एक क्रियात्मक सत्ता है, जिसकी प्रासंगिकता उसके प्रयोग काल में ही विचारणीय होती हैं। जबकि हाईडेगर भाषा के माध्यम से अस्तित्व के सृजनशील सत्य-स्वरूप-को उद्घाटित करने में सचेष्ट होते हैं। यह भाषा पहले से ही हमारे अस्तित्व में मौजूद होती है, हम सिर्फ उसे विभिन्न माध्यमों से उजागर करते हैं। हमारी बातचीत की भाषा इस तरह संवाद में सहायक होकर भी उथली ही रह जाती है। जैसा कवयित्री गगन गिल कहती हैं –

शब्द
जो कहना था मुझे
तुम्हारे कान में
जिसे उतरना था
तुम्हारे भीतर
उड़ गया आसमानों में.

असल में कवि जो कहना चाहता है, वह अनकहा ही रह जाता है, और भाषा कुछ कहने की ईमानदारी से भी वंचित रह जाती है। वस्तुतः भाषा का कार्य मूर्त वस्तु को अमूर्त बनाना होता है, उदाहरण स्वरूप बाहरी दुनिया में स्थित मूर्त पेड़ अपनी विशिष्टता खोकर 'पेड़' नाम के द्वारा अमूर्त हो जाता है और वह सामान्य रूप से किसी भी पेड़ के लिए प्रयुक्त होने लगता है। लेकिन जब कवि कुँवर नारायण अपनी कविता 'एक वृक्ष की हत्या' में कहते हैं:

"**अबकी घर लौटा तो देखा वह नहीं था—**
वही बूढ़ा चौकीदार वृक्ष
जो हमेशा मिलता था घर के दरवाज़े पर तैनात"

तो वे उस नामरूपात्मक जगत से मानो पेड़ को विदा कर उसमें अन्य अर्थ आरोपित कर देते है। पिंजड़े में बंद पक्षी और आकाश में उड़ती चील की उड़ान की तरह दोनों ही हमारे चित्त की स्थितियों के दो प्रतीक है। भाषा के कारागृह में बंद हम सत्य के मुक्त आकाश में उड़ने से वंचित रह जाते हैं। दूसरी तरफ हम शब्दों के पंख लगा कर आकाश में उड़ते हुए पक्षी की तरह अपने पदचिह्न भी नहीं छोड़ते हैं, और न उड़ान का कोई मार्ग ही बनाते है। सृष्टि-सत्य का भी ऐसा ही एक आकाश है, जो मुक्त होता है, उसके पीछे कोई पदचिह्न नहीं बनते हैं। इसलिए सत्य के बंधे-बंधाये मार्ग की तलाश व्यर्थ है, जो हमेशा अनहोना, अविश्रुत, सर्वथा अपरिचित रह जाता है। कवि गुरु रवीन्द्रनाथ के शब्दों में:

आकाशे तो आमी राखि नाहि मोर
उड़िबार इतिहास तबू उड़े छिनु
ऐई मोर उल्लास।

(यद्यपि आकाश में मैंने अपने पैर नहीं कभी रखे, तथापि आकाश में उड़ने का उल्लास मैं छोड़ नहीं पाया।)

निस्संदेह सृजन की भाषा का आधार जीवन की गतिविधियाँ ही है। इसी नींव पर कला की दीवार, खिड़कियाँ, दरवाजें और छतें बनती हैं; लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी रहती है, जो अपने आप में एक भाषा है। इस

तरह भाषा जीवन का लेखा जोखा नहीं है, बल्कि उन भावों के साथ अपने अस्तित्व का उद्गाता भी है। वह खोखली बाँसुरी में फूँक भरने का कौशल मात्र है, जो भावों का प्रक्षेपण करती है, और ध्वनि के माध्यम से सुर प्रकट करती है। सृजन सुन्दर खोजता है— राजा के महल में भी, रंक की झोपडी में भी, जो मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है, जहाँ ज्ञान और भाषा 'गूंगे के गुड़' की तरह अर्थ बतलाने में असफल हो जाते हैं।

तो कहना न होगा कि भाषा तथ्य प्रकट करने की अपेक्षा छिपाने का काम बेहतर ढंग से करती है। कवि उदयन वाजपेयी के शब्दों में इस लेख का अन्त करना चाहूँगी:

हर सुबह तुम आँखों में छिपाती हो आँसुओं को,
आँसुओं में छिपाती हो टूटे नक्षत्रों को
जिन्हें तुमने बीना था अकेलेपन के समुद्र तट पर एक शाम।

(फरवरी १३, २०२५)

२७

(दर्शनशास्त्र की एक गली सौंदर्यशास्त्र की तरफ भी मुड़ती है। इस लेख के साथ डॉ मधु कपूर सौंदर्यशास्त्र को हमारे पाठकों के लिए सरल बनाने के लिए एक शृंखला प्रारम्भ कर रही हैं जिसका पहला लेख आप यहाँ पढ़ रहे हैं।)

संवेदना और अभिव्यक्ति के अन्तराल में अनकहा सौंदर्य

प्रायः सभी संस्कृतियों में ऐसा चलन है कि जब आप कृतज्ञतावशत किसी को 'धन्यवाद' कहते हैं, तो उत्तर अक्सर मिलता है, 'ओह, यह तो मेरा सौभाग्य है' अर्थात निरपेक्ष आनंद का एहसास! शायद इसी टिप्पणी से मैं अपनी बात शुरू कर सकती हूँ।

"अरे, तूने तो गजब की चाय बनाई है! तेरे हाथ में जादू है, बिलकुल मेरी मनपसंद चाय है, असल में मुझे सबके हाथ की चाय पसन्द जो नहीं आती। पसन्द-नापसंद पर चर्चा करना वास्तव में मुश्किल है। यह अक्सर इसलिए भी मुश्किल लगता है, क्योंकि हमारे पास दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा कैसे करनी चाहिए इसका कोई फार्मूला नहीं होता है। क्यों पसन्द है, इसका कारण भी नहीं मालूम होता है। पर 'पसन्द है', 'सुन्दर लग रहा है' 'वाह ! क्या अद्‌भुत तान उठाई', 'क्या सजावट है तुम्हारे कमरे की', 'अमुक फिल्म के डायलॉग सुने, एकदम ध्यान लगा कर सुनना पड़ता है, कहीं कुछ छूट न जाएँ'- इत्यादि अभिव्यक्तियों के द्वारा हम किसी भी कला या शिल्प का मूल्यांकन करते हैं।

कभी-कभी हम अपनी पसन्द दूसरों पर थोपने की कोशिश भी करते हैं, 'चलो तुम भी देख आओ अमुक फिल्म', 'तुम भी यहीं से सामान ख़रीदा करो, अच्छा माल रखता है।' मेरे एक परिचित तो यहाँ तक कह देते हैं, 'अरे, शास्त्रीय संगीत में क्या रक्खा है, यह तो पूरा अंकों का खेल है, उसमें क्या आनंद?' संगीत यदि अंकों का खेल है तो गणित की समस्याओं का हल करना भी सांगीतिक रस है। बात कुछ यूँ है कि जो चीज हमें पसंद है, वह दूसरों को भी पसंद आनी चाहिए — इसके मूल में कहीं अपनी पसन्द को श्रेष्ठ बताना तो नहीं हैं ? यद्यपि ऐसी टिप्पणियों से कोई 'सुन्दर' कहने का अर्थ स्पष्ट नहीं होता है, तथापि कहीं-न-कहीं यह हमारे सौन्दर्य बोध में सुगबुगाहट तो मचाता ही है।

कहा जाता है कलाकार प्रकृति का अनुकरण करता है। जैसे सप्त सुरों का अनुकरण पक्षियों और जानवरों की बोलियों से किया गया है, जो संगीत का उत्स है। झरने का कलकल निनाद, पत्तों की सरसराहट, पहाड़ों और घाटियों में गूंजती अनवरत पुकार संगीत-कला को समृद्ध बनाती है। एक ही शब्द के तमाम अर्थ साहित्य की विपुल सम्पदा को एक नई दिशा देते हैं। किसी मन को भाने वाला दृश्य देखकर कैमरे में कैद कर लेने की इच्छा होती है।

अरस्तू ने ठीक ही कहा कि अनुकरण मानवता की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है और सभी मानवीय कलात्मकता प्रकृति का अनुसरण करती है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी 'अनुकीर्तन' शब्द का प्रयोग हू-ब-हू अर्थ में किया गया है। प्लेटो अपने आदर्श गणराज्य से कवियों और चित्रकारों पर प्रतिबंध लगाने की सिफारिश करते हैं, क्योंकि वे अनुकरण या नकल की नैतिकता के विरुद्ध थे। बात कुछ हद तक जंचती भी है। एक घोड़े का चित्रांकन 'ज्यों का त्यों' आंकने में कलाकार कोई नवीन संयोजन तो करता नहीं है। हाँ, हुसैन साहब के घोड़े के चित्रों को देख कर जरूर नवीनता, ताजगी और और कुछ-न-समझने का एहसास भी होता है।

इसके विपरीत अरस्तू कला को एक आवश्यक विरेचन (catharsis) के रूप में पुनर्वासित करते हैं। आज जिसे हम अमूर्त चित्रकला कहते हैं, जिसमें वस्तुओं को वैसा नहीं दिखाया जाता है, जैसी वे होती हैं बल्कि कलाकार उसके बारे में क्या सोचता है, यह आवश्यक होता है। उस नृत्यांगना को स्मरण करें, जिसने कनिष्क विमान दुर्घटना में अपने पति और दो बच्चों को खो दिया था। उसने तो नृत्य करना ही छोड़ दिया था। कई सालों के बाद जब उसने नृत्य नाटिका '**आग**' प्रस्तुत की, तो उसने वह सारा आवेग उंडेल दिया जो अब तक वह अभिव्यक्त नहीं कर पा रही थी। लोग बस उसका नृत्य देखते रहे और 'वाह! अति सुन्दर' ही कहते रहे। पर नृत्य-नाटिका ने विस्थापित नृत्यांगना को पुनः स्थापित कर दिया। कहने का तात्पर्य है कि विभिन्न ललित- कलाएँ कुछ हद तक अपने व्यक्तिगत अनुभवों को भी कला का विषय बनाती है।

इस तरह सौन्दर्य शास्त्र खोज करता है कि कला क्या है? और इसके लिए आवश्यकता है कुछ मानकों की जो निर्धारित करें कि किसी कलाकृति को 'सुन्दर' कहने के पूर्व उस कला के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी हासिल होनी चाहिए। उदाहरण के लिए यदि हमें भारतीय शास्त्रीय संगीत की बारीकियों का ज्ञान है, तभी हम किसी गायक के गायन की समीक्षा कर सकते हैं। बिना माइकेल एन्जेलो की चित्रकला की सूक्ष्मता को जाने उसकी आलोचना या प्रशंसा नहीं की जा सकती। बिना साहित्य के रस बोध के कविताओं का आनंद नहीं लिया जा सकता है। जिन विशेषताओं के कारण घोड़े को सुंदर माना जाता है—जैसे विकसित कूल्हे, टेढ़ी पीठ, तेज गति वगैरह, वही विशेषतायें मनुष्य के क्षेत्र में कुरूप मानी जाती है। इसलिए कई समीक्षक यह मानते हैं कि सुन्दरता का मूल्यांकन गणितीय पद्धति के आधार पर होना चाहिए, अर्थात किसी कला के अन्तर्गत व्याकरणिक नियमानुसार ही कला की विवेचना होनी चाहिए। क्या क्रिकेट की समीक्षा फुटबॉल के नियमों के अनुसार की जा सकती है? जिस तरह लययुक्त-स्पन्दन ह्रदय की सहजावस्था को प्रदर्शित करता है, और स्पन्दन की गति अत्यन्त धीमी या अत्यन्त तीव्र ह्रदय को अस्वस्थ कर देती है, उसी तरह सहज प्राप्य कला ही सुन्दर होती है।

यद्यपि कला की शुरुआत ऐंद्रिय अनुभव से होती है, जो हमारे किसी उद्देश्य से जुड़ी रहती है, जैसा कि ऊपर कहा गया 'चाय का अच्छा होना' हमारी जिह्वा के, गायन हमारी श्रवणेन्द्रियों के, चित्रकला हमारी चक्षुरिन्द्रियों के सुख से सम्बंधित है। कहा गया है कि 'सुंदरता देखने वाले की आंखों में होती है।' चूँकि सबके सुख भिन्न भिन्न होते हैं, इसलिए सुन्दरता भी आत्मनिष्ठ होनी चाहिए। लेकिन सौन्दर्य की उपलब्धि शर्त निरपेक्ष आनन्द से सम्बंधित है, क्योंकि यह आनंद किसी लाभ हानि से जुड़ा नहीं होता है। वह देश काल के बंधन का अतिक्रमण कर समय और स्थान की सापेक्षता से मुक्त हो कर ही उपलब्ध होता है। सत्य और शिव के समान सुन्दर भी चरम मूल्य की खोज कुछ मानकों के आधार पर करता है, पर सौंदर्यानुभूति क्या है, यह तो शायद ही कोई बता सके। हाँ, सच यह है कि हम उसे पहचान लेते हैं।

इस तरह दो बाते बिलकुल स्पष्ट हो जाती है — कला की समीक्षा करना एक बात है और उससे आनंद की उपलब्धि करना दूसरी बात। बिना किसी साहित्यिक कला के नियमों को जाने भी कविता हमें सुन्दर लग सकती है, शास्त्रीय संगीत का आनंद लिया जा सकता है, लियोनार्दो या मोजार्ट की कृतियों का सम्मोहन हमें बाँध सकता है। पर बिना किसी शास्त्रीय परिचय के समीक्षा नहीं की जा सकती। अतएव सौंदर्य की उपलब्धि किसी ज्ञानीय पूर्वग्रह से मुक्त होती है, पर उसकी समीक्षा अवश्य ही कुछ मानकों की अपेक्षा रखती है।

सामने टेबल पर "किसी वस्तु" को देख कर द्रष्टा की इन्द्रियगत संवेदनाएँ सूचना देती है कि 'यह पुस्तक है' जो वह अपने पूर्व ज्ञान या शिक्षण से प्राप्त करता है। लेकिन गुलज़ार साहब जब अपनी कविता में कहते हैं:

किताबें झाँकती हैं बंद अलमारी के शीशों से
बड़ी हसरत से तकती हैं
महीनों अब मुलाक़ातें नहीं होतीं
जो शामें उन की सोहबत में कटा करती थीं, अब अक्सर
गुज़र जाती हैं कंप्यूटर के पर्दों पर
बड़ी बेचैन रहती हैं किताबें
उन्हें अब नींद में चलने की आदत हो गई है।।
कोई सफ़्हा पलटता हूँ तो इक सिसकी निकलती है
किताबों से जो ज़ाती राब्ता था कट गया है
कभी सीने पे रख के लेट जाते थे
कभी गोदी में लेते थे
किताबें माँगने गिरने उठाने के बहाने रिश्ते बनते थे।

तो किताब के सम्बन्ध में उनकी कल्पना का जो मुक्त खेल चलता है, वह कवि की कला को प्रदर्शित करता है।

सौंदर्यबोध और रोज़मर्रा के अनुभव के बीच इस तनाव को स्पष्ट करने के लिए जो चरम स्थितियाँ काम करती हैं, वह है — उदात्तता (Sublime) अर्थात कलाकार अपनी व्यक्तिगत सुख-दुःख की अनुभूतियों को छान कर

एक अद्भुत कृति को जन्म देता है और उसे ऐसे शिखर पर ले जाता है, जहाँ वह अपनी अनुभूतियों से तटस्थ हो जाता है। निराला की "सरोज-स्मृति" कविता इसका प्रमाण है। 'सुन्दरता' जो साधारण व्यक्ति को रास्ते में पड़े एक अनगढ़ पत्थर में दिखाई नहीं देती है, एक शिल्पी के लिए वह कला का उत्कृष्ट नमूना बन जाती है। अ-कला और कला के बीच का यह तनाव छेनी के आघात से कृति के रूप में उभर आता है।

इसी तरह किसी नाटक या गायन के मंचन पर दर्शक और श्रोता भी उस अभिव्यक्ति के साथ अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख को एकात्म कर लेते हैं और एक सामूहिक चेतना के साथ उदात्तता में उसे विलीन कर देते है। इस तरह सौन्दर्यानुभूति उदात्तता के साथ अभिन्न हो जाती है। सौंदर्यानूभूति व्यष्टि से समष्टि के धरातल में समा जाती है, लौकिकता के धरातल से विस्थापित होकर एक अलौकिक आधार प्राप्त कर लेती है। इस तरह कला हमें दैनन्दिन जीवन के संघर्षों से मुक्ति दिला कर स्व को विस्तृत करने का वरदान देती है।

जैसे दो पत्थरों के घर्षण से आग निकलती है, वैसे ही बाह्य वस्तुपरक दुनिया की गतिशीलता, द्वंद्व और संघर्ष कलाकार की आत्मा में हलचल पैदा कर देती है। क्रौंच पक्षी का वध और क्रौंची का रुदन वाल्मीकि को करुणा एवं शोक से भर देता है, जो श्लोक के रूप में उमड़ पड़ता है। यह बात बार बार दुहरायी गयी है कि कला का उद्गम पीड़ा है, पर यह भी सच है कि मनुष्य को पीड़ा से वह मुक्त भी करती है। यही वह बिंदु है जो सौन्दर्य एवं सौन्दर्य-दृष्टि से निर्मित कला को रहस्यमयी बनाता है, जिसकी अनुभूति तर्कातीत है, जो सिर्फ भाव जगत की वृत्तियों के साक्षीभाव (contemplation) की मांग करती है।

(फरवरी २८, २०२५)

२८

(दर्शनशास्त्र, सौन्दर्यबोध कैसे होता है या रसानुभूति कैसे होती है - इस दार्शनिक प्रश्न पर भी विचार करता है। क्या हमारी भावनात्मक प्रवृत्ति ही वस्तु में सौंदर्य का संचार करती है या फिर वस्तु में अपना सौन्दर्य होता है। आपको ऐसे प्रश्नों का सीधा उत्तर मिले या नया मिले किन्तु ये लेख आपको ऐसे गूढ़ विषयों की गहराई तक ले जाएंगे और वहाँ पहुँच कर आप अपनी मति के अनुसार उस उत्तर तक पहुँच जाएंगे जो आपको जँचेगा।)

अनहद राग-रस

कुछ पढने के पहले मैंने चाय बनाई और उसमें बिलकुल चुटकी भर केसर मिला दिया, चाय तो बस गजब की बन गई। मुझे खुद आश्चर्य हुआ, 'यह कैसे हो गया'। चार तल्ले के फ्लैट में बन्दर ऊपर चढ़ कर खिड़की पर बैठ गया। कोई गणितज्ञ अंदाज़ करते करते थक जायेगा, 'पर क्या संगणना थी उसकी'! मिनटों में चढ़ गया। अरे, जाने के पहले ही सफाई की थी आलमारी की, और तीन महीने बाद आकर देखा बिलकुल कुतरी हुई किताबें पड़ी है, हैरानी से किताबों की तरफ ताकती रह गई—कागज के टुकड़ों का अम्बार?

इसी तरह प्रतिदिन की कितनी ही घटनाएँ हमें अचम्भे में डाल देती हैं, जिसका निचोड़ होता है अद्‌भुत रस अर्थात हैरानी। जलालुद्दीन रूमी कहते हैं: 'हम सारे तर्क और ज्ञान एक तरफ बेच कर खरीदते हैं हैरानी' यानी वह रस जो कबीर की वाणी में अंतर्विरोध के रूप में प्रकट होता है। तर्क अब देखता नहीं है, सुनता नहीं, स्पर्श नहीं करता है, सिर्फ अभिभूत होकर रह जाता है।

एक अचम्भा देख्यौ रे भाई। ठाढ़ा सिंह चरावै गाई ॥

जल की मछली तरुबर ब्याई। पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।।

चरकसंहिता में रस को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य का स्रोत कहा गया है, जो पृथिवी, जल, तेज, आकाश और वायु पञ्चतत्त्वों की साम्यावस्था है, जिससे छः प्रकार के मूल रस —मधुर, तिक्त, कटु, कषाय, लवण और अम्ल —रसनेन्द्रिय के विषय बनते हैं। लेकिन भारतीय कला चिन्तन में रस को सौंदर्य भावना की प्रतीति अर्थ में भी लिया जाता है। उदाहरण के लिए किसी कला को देख कर या पढ़कर हमें जो रसानुभूति होती है, वह विभिन्न मसालों से बने नाना व्यंजनों की तरह रसनेन्द्रिय ग्राह्य तो नहीं हो सकता है। प्रश्न उठता है कि ये रसानुभूति कहाँ और कैसे होती है? वस्तु में या द्रष्टा के चित्त में।

एक ओर आत्मवादी सौंदर्यबोध को चेतन प्रतीति के रूप में स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में हमारी भावनात्मक प्रवृत्ति ही वस्तु में सौंदर्य का संचार करती है, जो व्यक्ति भेद से भिन्न भिन्न होने के कारण आत्मनिष्ठ ही होती हैं, अर्थात 'आत्मनः कामाय'। दूसरी ओर वस्तुवादी मानते हैं कि सौंदर्य मूलतः वस्तु में होता है। शब्दों का प्रयोग, रंगों का अनुपात, साधारण घटनाओं में वैचित्र्य-वैविध्य आदि के उचित संयोजन से वस्तु में सौन्दर्य की सृष्टि होती है। गुलाब और सूर्यास्त के सौन्दर्य को कौन नकार सकता है?

एक तीसरा समन्वयवादी दृष्टिकोण भी है, जो सौंदर्य को पदार्थ का गुण मानता है, परन्तु उसकी प्रतीति सिर्फ प्रमाता में स्वीकार करता है। इस तरह से सौंदर्य न तो पूर्णतः प्रमाता की चेतना में रहता है और न ही पदार्थ में। उसकी सत्ता वस्तुतः व्यक्ति और वस्तु के तनाव को दूर करके संतुलन स्थापित करती है, जिसे cognitive engagement of appreciation कह सकते हैं। पर सत्य यह है कि कलागत सौंदर्यबोध के लिए मनुष्य में अभिरुचि का होना आवश्यक है। जिस तरह मधुमक्खियाँ ही केवल फूलों की सुगंध को पहचान कर उसका रस निचोड़ सकती है, बाकी कीट पतंगों में यह क्षमता नहीं होती है। उसी तरह एक सहृदय पाठक या रसिक श्रोता ही कला के सौंदर्य को पहचानने में समर्थ होता है तथा काव्यकला का आनंद अपने हृदय में स्थित स्थायी भावनाओं के उद्रेक से कर लेता है। दृष्टान्तस्वरूप –

पूस मास सुनि सखिन संग साईं चलत सबार,

लेकर बीन प्रवीन तिय गायो राग मल्हार।

पूस के महीने में प्रातःकाल पति का विदेश गमन सुन कर पत्नी वीणा पर राग मल्हार बजाने लगती है। कहा जाता है कि मल्हार राग बजाने से बरसात होती है, और बरसात में विदेश गमन की मनाही है। इस तरह पति को वह विदेश जाने से रोक लेती है। जैसे सूखे काठ में ईषत् अग्नि संयोग से ही अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उसी तरह उपर्युक्त व्यंजनार्थ सहृदय पाठक के सामने सहज ही प्रकट हो जाता है।

यह भी कम दिलचस्प बात नहीं है कि ललित कला का उद्गम शिव की लीला सखी महामाया है, जो मूर्तिकला, स्थापत्यकला, चित्रकला, संगीतकला, नृत्यकला आदि की स्रष्टा मानी जाती है। सांसारिक गतिविधियों से उत्पन्न पीड़ा, क्रूरता, प्रेम, करुणादि से मुक्त होने की कोशिश शिल्पकला में रूपान्तरित होकर फूट पड़ती है। इस मानव-रचित-सौंदर्य को रमणीय, चारु, मनोरम, साधु, सुषमा, शोभा आदि शब्दों से भी अभिहित किया जाता है।

वास्तव में रस का मुख्य स्रोत वे **स्थायीभाव** है जो मानव मन में बीज रूप से निवास करते हैं, जिसकी अभिव्यक्ति रस रूप में होती है। जैसे रति, उत्साह, भय, क्रोध, जुगुप्सा, भयंकर, विस्मय, हास्य और शोक, जिन्हें जाग्रत करने का काम **विभाव** अर्थात वस्तु या परिस्थितियां होती है। उदाहरण के लिए सुदामा की दीन दशा देख कर श्रीकृष्ण का स्थायी भाव **शोक** उद्‌बुद्ध हो जाता है, और वे द्रवित होकर रो पड़ते हैं। यहाँ सुदामा **आलम्बन विभाव** है। कृष्ण की आँखों से आँसू बहना **अनुभाव** है। इसके अलावा स्थायी भाव को उत्तेजित करने वाला **उद्दीपन विभाव,** यथा लक्ष्मण का परशुराम को ललकारना, व्यंग्य करना, मुस्कुराना उनके क्रोध को बढ़ावा देना है, जो आग में घी डालने का काम करता है। कम्पन, होठों का फडकना, आँखे लाल होना, मुट्ठी बांधना इत्यादि संचारी या व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं।

साधारणतः रसों की संख्या नौ कही जाती है। यथा —श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, अद्‌भुत, वात्सल्य, वीभत्स। दार्शनिक अक्सर इस बात पर बहस करते है कि *रस* का स्वरूप क्या होता है? वास्तव में रचनाकार अपने जीवन के अनुभवों का निचोड़ कृति के माध्यम से श्रोता, पाठक और दर्शक के सामने प्रस्तुत करता है। ऐसा करते समय वह जागतिक सम्बन्धों और व्यक्तिगत विघ्न बाधाओं से तटस्थ होकर अपनी अनुभूति को रचना का विषय बनाता है। अर्थात किसी विशेष आवेग —श्रृंगार, हास्य, वीर आदि से स्वयं को एकात्म कर लेता है, जिसे हम तन्मयता कहते हैं। उदाहरण के लिए जब हम कहते हैं 'यह व्यक्ति हँस रहा हैं' तो उसके 'हँसने की क्रिया' से व्यक्ति का तादात्म्य हो जाता है, जिसे व्यक्ति से पृथक नहीं किया जा

सकता है। एक ओर तन्मयता और दूसरी ओर तटस्थता दोनों स्थितियाँ उसकी अनुभूति को अभिव्यक्त करने में समर्थ होती है। व्यक्तिगत सुख-दुःख रचना का आधार जरूर होता है, पर रस की उपलब्धि उससे निरपेक्ष होकर ही हो सकती है।

इसे एक उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। किसी नाटक की प्रस्तुति में जो अभिनेता राम के चरित्र का अभिनय करता है, रसानुभूति का वह आधार होता है, दर्शक जो अभिनेता को भगवान राम का स्वरूप समझ बैठता है, वह भी राम-रस में डूबा रहता है, लेखक जो राम के चरित्र की रचना करता है वह भी रस से सराबोर रहता है, मंच सज्जा का संयोजन भी रस की अभिव्यक्ति में सहायक होता है। कहने का तात्पर्य है कि सभी अपनी अपनी परिस्थिति के अनुसार व्यक्तिगत बाधाओं से मुक्त होकर रस को आत्मसात करते हैं, और तभी नाटक की प्रस्तुति सफल कही जा सकती है। अतएव यह एक ऐसी अनुभूति है जो **व्यक्तिगत न होकर भी व्यक्ति को ही उसकी उपलब्धि होती है।** मंचस्थ नाटक में परशुराम के क्रोध के अभिनय को देख कर दर्शक को रसानुभूति होती है, पर दर्शक स्वयं जब किसी के प्रति क्रोधित होता है, तो वह रसात्मक नहीं होता है।

इस तरह रस का आस्वाद्य है कला और आस्वादन है रस, जो प्रेक्षक के ह्रदय में चमत्कार की अनुभूति (जिसे हम ऊपर अद्‌भुत रस कह चुके हैं) का आनंद देता है। लेकिन हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अभिनेता हो या लेखक या दर्शक सभी उस पात्र की तरह होते हैं, जिसमें मदिरा तो रखी जाती है, पर उस पात्र को मदिरा का कोई स्वाद उपलब्ध नहीं होता है, फ़िलहाल वह तटस्थ रहता है। यह एक अद्‌भुत अनुभूति है, जो योगियों की अनुभूति को भी मात दे देती है, जहाँ विषय का त्याग नहीं होता है, विषय आत्मरूप बन कर विलक्षण आनंद का उत्स बन जाता है।

यह विलक्षण अनुभूति ज्ञान का विषय नहीं होती है, इसकी सिर्फ प्रतीति होती है। समीक्षक के लिए यह ज्ञाप्य है पर दर्शक के लिए अनुभूति है। क्रोधावस्था में हम **'होते'** हैं, उसे जानते नहीं हैं। जैसे ही जानते हैं, वह क्रोध नहीं रह जाता है। जबकि ज्ञान का विषय ज्ञात और अज्ञात दोनों अवस्थाओं में समान रूप से रह सकता है। जैसे घट की सत्ता हमारे ज्ञान की अपेक्षा

नहीं करती हैं, अज्ञात और ज्ञात दोनों ही अवस्थाओं में घट रहता है। पर क्रोध, प्रेम, करूणा आदि बिना प्रतीति के नहीं रह सकते। अतएव रस न अनुभव के पूर्वकाल में रहता है, न अनुभव के विनाश के बाद रहता है। रस 'उत्पन्न नहीं होता हैं', क्योंकि यह कार्य नहीं है, यह सिर्फ अभिव्यक्त होता है। कार्य तो कारण के न रहने पर भी रह सकता है, जैसे कुम्भकार के न रहने पर भी घट विद्यमान रहता है। किन्तु आनंद-रस चेतन सत्ता की अनुपस्थिति में नहीं रह सकता। रस, इस तरह न परोक्ष अनुभूति है, और न ही प्रत्यक्ष अनुभूति है। क्योंकि एक ओर रस की **प्रतीति** साक्षात कही जाती है, दूसरी ओर यह शब्दादि द्वारा अनुभवजन्य होने के कारण परोक्ष कही जाती है। जीवन में शोक की अनुभूति से शोक उत्पन्न होता है, जबकि कला में शोक की अभिव्यक्ति आत्मसाक्षात्कार के द्वारा आनंद का रसास्वादन कराती है। यह अनिर्वचनीय अनुभूति न ही यथार्थ होती है और न ही अयथार्थ। यह अनहद रस है जो बिना आघात के अभिव्यक्त होता है।

तो कहना न होगा कि कला एक वृक्ष है जिसका जन्म कलाकार के मानस में होता है, उसके फूल कला के उपादान होते है, और रसास्वादन रसिक दर्शक या पाठक को होता है। इस तरह सारा जगत रस के सागर में गोते लगाता दिखाई देता है।

'रसौ वै सः रस' (तैत्तिरीय उपनिषद्)

(मार्च. १७, २०२५)

२९

(सौंदर्यशास्त्र का तीसरा लेख सुंदर ही सत्य और सत्य ही सुंदर इस बात की जांच करता है कि 'सत्य' एवं 'सौन्दर्य' के बीच तालमेल कैसे किया जाए। प्रश्न यह भी है कि रसानुभूति का सत्य के साथ समायोजन कैसे किया जाए? फिर विज्ञान से जुड़े प्रश्न भी तो हैं। आइए, इन सभी प्रश्नों पर आप भी विचार कीजिए।)

सुन्दर ही सत्य,सत्य ही सुन्दर

यह अंतर सदियों से चला आ रहा है कि विज्ञान सत्य की खोज करता है और कला सौंदर्य की। Ode on a Grecian Urn कविता में जॉन कीट्स का "Beauty is truth, truth beauty" यह वाक्यांश सौंदर्य और सत्य की अवधारणाओं के बीच एक गहरे सम्बन्ध को पुष्ट करता है। इसलिए कभी-कभी यह बहस का विषय बन जाता है कि 'सत्य' एवं 'सौंदर्य' का तालमेल कैसे किया जाय? सत्य कई बार अप्रिय और कड़वा होता है, तथा किसी एक की नज़र में जो वस्तु कुरूप होती है, अन्य की नज़र में वह खूबसूरत हो जाती है। यूँ तो सौन्दर्य का आकर्षण मनुष्य को उतना ही खींचता है, जितना सत्य का सन्धान। यह अलग बात है कि अक्सर हम स्वार्थ के वशीभूत होकर सत्य को अनदेखा कर जाते हैं।

सत्य शब्द की उत्पत्ति संस्कृत सत् शब्द से हुई है जिसका अर्थ होता है अस्तित्व का होना, अर्थात किसी कथन को सत्य तभी कहा जा सकता है, जब वास्तव जगत में हूबहू घटना घटी हो। उदाहरण के लिये 'घास हरी है' यह वाक्य सत्य है क्योंकि हमारी दुनिया में घास हरी होती है। एक कैंची का अस्तित्व सत है यदि वह काटने में समर्थ है। एक पेड़ सत है यदि वह फल फूल देता है। वैज्ञानिक सत्य अक्सर ठंडे और कठोर कहे जाते हैं, क्योंकि उनके प्रयोग गणितीय-सापेक्ष होते है, जैसे सापेक्षता का सिद्धांत, गुरुत्वाकर्षण, क्वांटम का सिद्धांत, इत्यादि। पर इतिहास ऐसी घटनाओं से भी पटा पड़ा है, जब सत्य भाषण के लिए गैलिलियो को सजा और सुकरात को मृत्युदंड भी झेलना पड़ा।

कितनी दिलचस्प बात है कि आज तक किसी को गंभीरता से यह कहते हुए नहीं सुना गया कि इन्द्रधनुष, सूर्यास्त या अपनी माँ का चेहरा सुन्दर नहीं है। हम पहले भी देख चुके हैं कि रसानुभूति न तो यथार्थ होती है और न ही भ्रम होती है। फिर इसका सत्य से समायोजन कैसे किया जा सकता है? कला के खातिर एम.एफ. हुसैन को देश निकाला तक दे दिया गया था। सलमान रश्दी की तो हत्या की कोशिश की गई थी। प्लेटो तो काव्य की

वैधता ही अस्वीकर कर देते हैं, क्योंकि काव्य की लच्छेदार और पेंचीदी भाषा न केवल धोखे में डालती है, बल्कि काव्य को सत्य से भी दूर कर देती है। उनके अनुसार कला यदि वास्तव पदार्थ की नक़ल मात्र है तो ऐसी कला का क्या मूल्य?

विज्ञान की प्रवृत्ति व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठकर सत्य का सन्धान करना है। इसलिए तथाकथित वैज्ञानिक स्वज्ञान निरपेक्ष कहे जाते हैं। विज्ञान की तरह कला के भावपक्ष में जिस आनंद और आस्वाद का अनुरणन होता है, वहाँ भी एक तटस्थभाव मौजूद रहता है, जो उसे भोग की अपेक्षा उदात्तता की भूमि पर ले जाता है। गुस्सा होने के पश्चात् यह कहना कि —'मैं जानता हूँ कि मैं उस समय गुस्से में था', इस अनुभूति में सत्य का बोध हो जाता है। कला का रसबोध इस तरह सत्य की उपेक्षा नहीं करता है। प्रेमभाव की अनुभूति होने के पश्चात ही कलाकार उसे मार्मिक चित्रों में या कविता में अभिव्यक्त करने में सक्षम होता है। इस तरह कवि-कल्पना लौकिक जीवन का ही पुनर्गठन होता है, जो सत्य से अलग नहीं होता है। इस तरह कला को भी ज्ञान की साधना कहा जा सकता है। जब तक रचनाकार अपने सुख दुःख में जकड़ा रहता है, वह सृजन नहीं कर सकता है। इस सन्दर्भ में शंकर के परकाया प्रवेश का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। कहा जाता है कि उन्होंने मृत राजा अमरु के शरीर में प्रवेश कर भोगादि प्रतीति के बाद द्दष्टा भाव से अमरुशतक की रचना की थी। भयंकर, वीभत्सादि घटनाओं का मंचन जब हम किसी नाटक में देखते हैं तो वह भय न तो किसी लेखक का, न तो किसी पाठक का और न ही किसी ही दर्शक का होता है। वह किसी एक का होते हुए भी किसी एक का न होकर रसानुभूति में रूपान्तरित हो जाता है। वाल्मीकि के राम, तुलसी के राम, भवभूति के राम, कृत्तिवास के राम भिन्न भिन्न होकर भी एक ही राम होते हैं।

इस तरह सत्य की भी बहुमुखी प्रकृति अलग-अलग पहलुओं को प्रतिबिंबित करती हुई विलक्षण और जटिल हो जाती है। विज्ञान के विभिन्न मॉडल या सिद्धांत एक ही घटना की व्याख्या कई तरीके से करते हैं। उदाहरण के लिए, प्रकाश के कण और तरंग सिद्धांत भौतिक पदार्थ की पृथक पृथक व्याख्याएँ देने के बावजूद अपने अपने संदर्भों में स्वीकृत होते

हैं। यह द्वंद्व दर्शाता है कि किस प्रकार विज्ञान अलग-अलग दृष्टि बिन्दुओं से सत्य स्वरूप की व्याख्या करता है। हम जितना देखते हैं उतना ही सत्य नहीं होता है, कल्पना की उड़ान हमें प्रत्यक्ष के पार ले जाती है। किसी के कमरे में खून से सने कपडे देख कर हम इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं कि उस कमरे में रहने वाले व्यक्ति ने ही खून किया है। सम्भावनाओं के असंख्य द्वार रहस्य रोमांच का कारण बन जाता है। कला की तरह विज्ञान में भी भावनाओं के नए गलियारें खुलते हैं और किसी एक सम्भावना पर मुहर लग जाती है। देखा जाय तो प्रेमादि भाव इन्द्रियगम्य तथ्य नहीं होते है, प्रेम में 'होना' पड़ता है। प्रेम में भी सत्य की बात तब उठती है, जब हम कहते है सच्चा प्रेम, झूठा प्रेम, प्रेम में धोखा आदि। झूठे प्रेम को ख़ारिज करने के लिए प्रमाण की जरूरत पड़ती है। प्रेम सच्चा होने पर सत्य की कोटि में आ जाता है।

कुछ सत्य वस्तुनिष्ठ होते हैं, जैसे दो और दो मिलकर चार होते हैं। दूसरी ओर, सांस्कृतिक, व्यक्तिगत और नैतिक सत्य व्यक्तिगत अनुभवों और सामाजिक मानदंडों के आधार पर भिन्न भिन्न होते हैं। सिर्फ इतना फर्क होता है कि ज्ञान प्रमाणसिद्ध है, जबकि भाव को संचारित करना पड़ता है। पुष्प सुंदर होता है, पर कांटा भी उतना ही सुंदर होता है, क्योंकि वह पुष्प का रक्षक होता है। साधारण चीजें —जैसे रास्ते की दीवारों पर पुता हुआ पुराना पैम्फलेट, किसी की कार पर सोया कुत्ता, रिक्शे पर भोजन करता रिक्शेवाला, बच्चों को ठेलती हुई बिल्लियाँ, चलती हुई ट्रेनों की आवाज़, सड़कों पर लड़ते हुए बूढ़े जोड़े — जिसे हम आमतौर पर अनदेखा कर देते है, सत्य तो होते ही है, सुन्दर भी।

हाईडेगर, जर्मन दार्शनिक, के अनुसार कला सिर्फ सौंदर्य या आनंद का उत्स ही नहीं, सत्य का स्रोत भी होती है, जिसमें हम अपने अस्तित्व के सही स्वरूप को पहचान सकते हैं। कला का प्रमुख उद्देश्य उसके उपादानों से न होकर संसार के साथ व्यक्ति के संबंधों को खोल कर रखने में होता है। हाईडेगर सत्य को ग्रीक शब्द "aletheia," से व्युत्पन्न मानते है, जिसका अर्थ होता है "unconcealment" or "disclosure अर्थात जो छिपे हुए अर्थ को उन्मोचित करता है, और संसार को एक नई दृष्टि से समझने में

सहायक होता है। जिस तरह बांसुरी अन्दर से खोखली होने पर ही सुरों का साधन बनती है, उसी तरह मनुष्य के अस्तित्व की पराकाष्ठा कला में परिपूर्णता प्राप्त करती है। किसी व्यक्ति के सम्बन्ध में इतना जानना पर्याप्त नहीं है कि वह लम्बा है, काला है, उसका वजन ७५ किलो है, इत्यादि। यह भी जानना आवश्यक है कि उसका चिन्तन जगत कैसा है, जिसमें वह आत्म-विच्युत न होकर आत्म-प्रतिष्ठित हो जाता है, अर्थात स्वयं को स्वयं से बाहर होकर देखना (being-outside of-oneself)। काव्य का सत्य यथार्थ की नक़ल मात्र नहीं होता है, वह तथ्य को सत्य में बदल देता है। लौकिक जगत का आंवला कला के क्षेत्र में आम तो नहीं बन सकता, किन्तु रस के पाक से मुरब्बा जरूर बन जाता है। पर हाँ, उत्तर आधुनिक काल में कलाकार कल्पनाओं के मिश्रण से **आमांवला** का यथार्थ भी सृजन कर लेता है। आज इतिहास की भी हमें बहुआयामी व्याख्यायें प्राप्त होती है, जो इतिहास पढ़ने का नजरिया ही बदल देती है। इसी तरह काव्य-रस की सामग्री लोक से ही प्राप्त होती है, रचनाकार भी लौकिक ही होता है, पर कला से लोक तिरोहित होकर अ-लौकिक बन जाता है। कला निरी काल्पनिक धरातल पर खड़ी होकर भी वास्तविकता की तलाश करती है।

नीत्शे ने कला को दो विरोधी शक्तियों के रूप में वर्णित किया है। सुंदर कला में व्यवस्था और अव्यवस्था दोनों तत्व समान रूप से चलते है। एक गणितीय और तार्किक व्यवस्था का प्रतीक है, दूसरा भावना और तार्किक व्यवस्था के खंडन का प्रतीक है। वैज्ञानिक और कलाकार के बीच के इस अंतर को बहुत नहीं खींचना चाहिए, क्योंकि सत्य की खोज और सौंदर्य का सृजन एक-दूसरे के परिपूरक है। गणितीय प्रमाण सुरुचिपूर्ण होते ही इसलिए है कि क्योंकि उनमें सौंदर्य का सामंजस्य होता है, और सौंदर्य का काम हमें उन सत्यों के करीब ले जाना है। ईदगाह का हामिद, कफ़न का घीसू और माधव हमारे आसपास के ही किरदार है, जो कठोर सत्य को मीठी चाशनी में परोसे जाते हैं।

और अंत में स्पिनोज़ा, एक यहूदी दार्शनिक, की उपमा —कला और ज्ञान दो आइने है जिन्हें आमने सामने रखने पर जो अनंत अनुवृत्तियाँ बिम्बों के रूप में उभरती है, वही इस सम्बन्ध को सटीक परिभाषित कर सकती है।

(मार्च २७, २०२५)

३०

(सौंदर्यशास्त्र शृंखला में डॉ मधु कपूर के इस चौथे लेख में आप दोस्तोवस्की के इस प्रसिद्ध कथन की जांच करेंगे कि सौंदर्यबोध ही दुनिया को बचा सकता है। आज पूरी दुनिया में जिस तरह का नफरती माहौल छाया हुआ है, उसमें सौंदर्यबोध जैसी सुकोमल अनुभूति का ज़िक्र मात्र भी एकदम असहज सा लगता है। लेकिन यह भी सच है कि जब भी मनुष्यता को इस नफरती माहौल से निजात पानी होगी, तभी सौन्दर्यबोध जैसी अनुभूतियाँ अपने आप प्राथमिकता पा लेंगी)

आखिर सुन्दरता ही दुनिया का त्राण करेगी : Dostoevsky

"एक बार यूँ ही दोस्तोवस्की ने पहेली बुझाने के ढंग से कहा, 'सौंदर्यबोध ही दुनिया को बचा सकता है'. मैं सोच में पड़ गया? कुछ समय तक मुझे यह शब्दों का खेल मात्र लगा. पर...खून से सनी ऐतिहासिक घटनाएँ पूछती हैं कि क्या कभी ऐसा संभव हुआ है? विचार निःसंदेह महत् है—लेकिन सुन्दरता ने किसको बचाया है आजतक ..."

उपर्युक्त कथनांश नोबेल पुरस्कार विजेता रूसी कथाकार सोल्झेनित्सिन (Solzhenitsyn) के भाषण से उद्‌धृत है। रूसी लेखक दोस्तोवस्की अपनी पुस्तक A Writer's Diary में, जो कुछ कहानियों तथा लेखों का संग्रह है, सत्य और सुन्दर के बीच संतुलन स्थापित करने के लिए निरंतर संघर्षरत दिखाई देते हैं। वे चित्त के द्वैत आयामों का उल्लेख करते हैं। पहला निम्नरुचि का पापबोध (Sodom), जो मानवीय परिस्थितियों का कुत्सित स्वरूप है तथा दूसरा ऐन्द्रिक, जो उदात्त आध्यात्मिकता (Madonna) को जन्म देता है। Bobok का कथानक कुछ मृत आत्माओं के आसपास घूमता है, जो कब्र में परस्पर वार्तालाप में मशगूल है। लेखक कौतूहलवश उनके कथोपकथन से उनकी कुछ कमजोरियों एवं दुष्कर्मों का सुराग पा जाता है। तभी लेखक की एक छींक ने उन्हें सजग कर दिया और वे चुप हो जाते हैं, क्योंकि वे नहीं चाहते हैं कि उनकी गुप्त बातें दुनिया के सामने जाहिर हों। The Dream of a Ridiculous Man का कथानक एक ऐसे व्यक्ति को केंद्र में रखकर लिखा गया है, जो जीवन को व्यर्थ और बकवास समझ कर आत्महत्या करने जा रहा है। अचानक एक प्रेम से भरपूर लड़की का सानिध्य पाकर जीवन की ओर लौट आता है और 'आत्महत्या करने के विचार' से ग्लानि महसूस करने लगता है। दोनों कथाएँ समाज और व्यक्ति के अन्दर खलबली मचाने वाली विसंगतियों का उदाहरण प्रस्तुत करती है।

दोस्तोवस्की, जो एक अस्तित्ववादी दार्शनिक है, अपने लेखन में मानवीय परिस्थितियों यथा दुःख, कष्ट, यातनाएं, अपराधबोध, मृत्यु इत्यादि का यथार्थ विश्लेषण करते है। एक ओर जहाँ बुद्ध निर्वाण को दुखों से मुक्ति का मार्ग बतलाते हैं, वहीं दोस्तोवस्की एक नई तार्किक संवाद पद्धति का उल्लेख करते हैं। उनकी रचनाओं में निहित संवादों के माध्यम से उनके कला सम्बन्धी विचार संग्रह किये जा सकते हैं। संवादात्मक पद्धति में हम अपने पूर्वग्रह से मुक्त होकर एक-दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयास करते हैं, ताकि विचारों को गति और मूर्तता प्रदान की जा सके। यह प्रक्रिया लोगों को अनसुलझे तनावों को खोलने के लिए आमंत्रित करती है। हालाँकि ये संघर्ष आसानी से हल नहीं होते हैं, लेकिन वे समझ के ऐसे क्षण उपस्थित करते हैं, जो मानवीय रिश्तों की गांठों को खोलने में मदद करते हैं। इसके विपरीत एकतरफ़ा लेखन आमतौर पर सपाट और पूर्वग्रहग्रस्त होने के कारण बयानबाजी में बदल जाता है।

"Crime and Punishment" उपन्यास में अभियुक्त रासकोलनिकोव को मजिस्ट्रेट संवाद के माध्यम से उसके आंतरिक संघर्ष को तथा उसके हत्या के समर्थन में दिए गये तर्कों को सूक्ष्मता से चुनौती देता है। दूसरी ओर एक अन्य पात्र मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि से अभियुक्त की नैतिक दुविधाओं को उकसा कर उसे टूटने के बिंदु के करीब ले जाता है, जहां अभियुक्त अपने अपराध को मजबूर होकर स्वीकार करता है। मजिस्ट्रेट स्वयं क़ानूनी दांव-पेंच, सामाजिक व्यर्थताओं और नैतिकता के द्वंद्व में फंसकर तथा प्रमाण की तलाश में व्यक्ति, समाज, राजनीति और परिस्थितियां सभी को कानून के कटघरे में खड़ा पाता है। ऐसी अवस्था में दोषी किसे कहा जाए? मानवीय जटिलताओं में गणितीय अनिवार्यता कहाँ मिलती है, जो हम उन्हें 'दो और दो चार' की तरह प्रमाणित कर सकें। कानून की किताबों में लिखे नियम विरोधी साक्ष्यों के सामने व्यर्थ साबित हो जाते हैं। इस तरह कानून की घिसी पिटी लकीरों पर चल कर फैसले नहीं लिए जा सकते हैं। अंततः विश्वास और निराशा से जूझते हुए कारावास के दौरान अभियुक्त रासकोलनिकोव में पीड़ा और आध्यात्मिक जागृति का उन्मेष होता है कि वह वास्तव में सोन्या से प्रेम करता है। यह वह क्षण है जो उसकी जिंदगी में

आमूल परिवर्तन ले आता है। दोस्तोवस्की का विश्वास पक्का हो जाता है कि व्यक्ति दुखों से पलायन न करके, उसके माध्यम से ही सच्चा आनंद प्राप्त कर सकता है।

दोस्तोवस्की मानते हैं कि जिस तरह जीने के लिए भोजन आदि की आवश्यकता होती है, वैसे ही जीने के लिए सुन्दरता का उपभोग भी आवश्यक है। जिन्दगी में यदि सौन्दर्यबोध नहीं होता तो क्या मानवीय रिश्तों की कोई अहमियत रह जाती? जीवन में विरोधाभास है, झगडा है, टूटन है, फिर भी हम जिन्दा रहना चाहते हैं, अन्यथा इस अव्यवस्था में हमारा जीना दूभर हो जाता। कला में पनाह ही विसंगतियों से जूझने का अवसर देती है। उसे यह जानने की जरूरत नहीं है कि कविता पढ़ कर क्या होगा, मूर्ति बना कर हम क्या हासिल कर लेंगे, नृत्यकला की थकान हमें कितना आनंद दे सकती है। इस तरह का बेवजह तर्क हमें किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाता, उलटे हमें विभाजित कर देता है, जबकि सौंदर्यबोध हमारी चेतना को आकार देता है।

सुन्दरता यद्यपि कुछ अर्थों में व्यक्तिगत होती है, पर उसका परिसर विस्तृत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए दूसरों की सहायता करना, उनके कष्ट को साझा करना, नृत्य की प्रस्तुति का हिस्सा बनना, एक फड़कती हुई बहस में अपनी राय प्रकट करना, क्रिकेट खेलने के वक्त गेंद को आहिस्ते से ठेल देना या फिर जोखिम उठा कर नाव को खेना इत्यादि जहाँ कहीं भी जो कुछ भी सुन्दर है, जो हमें उत्कर्षता की सीमा पर पहुंचा देता है। सौंदर्य खोजने का अर्थ है छोटे छोटे टुकड़ों में बंटी जिंदगी में सामंजस्य स्थापित करना है। इस तरह सुन्दरता एक प्रक्रिया भी है और एक आदर्श भी।

Marcus Aurelius, एक रोमन राजा और दार्शनिक, कुछ इसी लहजे में समर्थन करते हैं —चाहे तवे पर पड़ी रोटी में काली चित्तियाँ हो, बूढ़े चेहरे की झुर्रियां हो अथवा पेड़ के पत्तों का झरना हो— इनकी सुन्दरता का उपभोग दो-मुहें तर्क से नहीं किया जा सकता है, जिससे दोस्तोवस्की को खासी कोफ़्त है। तर्क की इस दुधारी तलवार के विरुद्ध दोस्तोवस्की सौंदर्यबोध को कला की उत्कृष्ट मिसाल मानते हैं। उत्तेजना से भरपूर एक राजनैतिक भाषण, समाज हेतु किया गया रक्त दान शिविर, एक अनोखी

रोमांचकर यात्रा (सुनीता विलियम की तरह), चाशनी में पगी जलेबी, नृत्यरत पैर और मंच पर कैटवाक करती मॉडल आदि सब कुछ सुन्दर है। इसके विपरीत एक गाली गलौज से भरपूर भाषण, मारपीट, खून खराबों की घटनाएँ, तथाकथित फूहड़ नाच इत्यादि भी धीरे धीरे सामाजिक धारा में विलीन हो जाते हैं।

कुछ आलोचक कला को व्यवहारिक रूप से अनुपयोगी समझते है, उनके विरुद्ध दोस्तोवस्की का कहना है कि वास्तव में कला का सामंजस्य व्यवहारिक उपयोगिता से ही है। दृष्टान्तस्वरूप 'न्यायसंगत' कार्य भी सुन्दर कहा जा सकता है और अहित करने वाली सुंदर वस्तुएँ भी सुंदर नहीं हो सकती है। किसी गहरी नदी को पार करने के लिए दो नौकाओं में साधारण पटलों की बनी नाव ही सुरक्षित होगी क्योंकि दूसरी नाव रंग बिरंगी होने पर भी उसकी तली में छेद है। साधारण नाव की उपयोगिता ही उसका सौंदर्य है। सुंदरता के साथ सद्गुण की खोज कहीं और नहीं, प्रेम और दया से भरे हृदय में ही हो सकती है। ऋषि अष्टावक्र और सुकरात शारीरिक सौंदर्य की दृष्टि से अच्छे न होने पर भी ईश्वरीय सौंदर्य से भरपूर थे।

दोस्तोवस्की के संदर्भ में सुन्दरता नैतिक उदात्तता से जुड़ी है, और यह अनुभव उसी को हो सकता है जो तर्क की दीवार को फांद कर देखता है। मनुष्य कभी कभी दांत के दर्द में 'आह, उह' करके दर्द का प्रशमन कर लेता हैं, कभी-कभी अपराधी अपने अपराध के प्रति सजग होकर स्वयं को दंड देकर आनंद पाता है। दोस्तोवस्की की उक्ति The Brothers Karamazov से — "जब मैं रसातल में गिरता हूँ, तो मेरा सिर नीचे और एड़ी ऊपर होती है, और मुझे इस बात की खुशी होती है कि मैं जिस अपमानजनक स्थिति में गिरता हूँ, वह मेरे लिए यह सुंदर है और इसी शर्म से मैं अचानक एक गीत गाने लगता हूँ।"

The Idiot उपन्यास में The Dead Christ के चित्र को देख कर मिशकिन को एक अद्‌भुत अनुभूति होती है, जिसे सुनकर रोघजिन उसका मजाक उडाता है। मिशकिन उसके उत्तर में कहता है कि इस अनुभूति को किसी तर्क के द्वारा नहीं समझाया जा सकता है। 'कुछ है' जो मुझे आकर्षित करता है, जो नास्तिक कभी नहीं समझ सकता। इस 'कुछ' का सम्बन्ध

सत्य, शिव और सुन्दर से है, जो प्रकृति, कला, मानवीय संवेदनाओं और आध्यात्मिकता में सुन्दरता को एक अद्भुत दृष्टि प्रदान करता है। इस तरह सच्चे सौंदर्यबोध में दुनिया को बचाने की तथा मानवता को ऊपर उठाने की सामर्थ्य है। दोस्तोवस्की के लिए सुंदरता एक प्रतीति ही नहीं है, बल्कि एक नैतिक आदर्श भी है। यदि हमें सुन्दर, सामंजस्यपूर्ण और द्वन्द्वरहित जीवन चाहिए तो वह तर्क से नहीं कला से ही संभव हो सकता है। उनका मानना है कि स्वयं विज्ञान सुंदरता के बिना एक मिनट भी नहीं टिक सकता है। जीवन के अंधेरे पहलुओं से स्वयं को उबार कर सत्य और प्रेम के समुद्र में गोते लगाना ही दोस्तोवस्की के प्रसिद्ध कथन "सौंदर्यबोध ही दुनिया को बचाएगा," का लक्ष्य है। यह लापरवाही में कहा गया कथन न होकर एक भविष्यवाणी है जो आने वाले समय में एक नई दिशा दे सकता है। हो सकता है कि आज विश्व में व्याप्त विद्रूपताओं और विकृतियों से मुक्ति हमें सौंदर्यबोध ही दिलाए!

(अप्रैल ०९, २०२५)

३१

(डॉ मधु कपूर के इस लेख में आप उन दुविधाओं पर भी चर्चा देखेंगे जिनसे आप अपने जीवन में शायद कभी न कभी रु-ब-रु हुए होंगे, मसलन कभी-कभी तो हम यहाँ तक सोचते हैं कि मुझे अच्छा क्यों बनना है। या फिर यह कि किन परिस्थितियों में झूठ बोलना स्वीकार्य होगा। फिर इस लेख में ऐसे मुद्दे भी चर्चा में आते हैं कि जैसे जीवन मूल्य क्या होते हैं। उत्तर भी मिलता है कि मूल्य वह मान्यताएँ है जो हमें टूटने नहीं देती, चाहें कितने ही दुर्दिन क्यों न झेलने पड़ें।)

अच्छा बनने की कठिनाइयाँ !

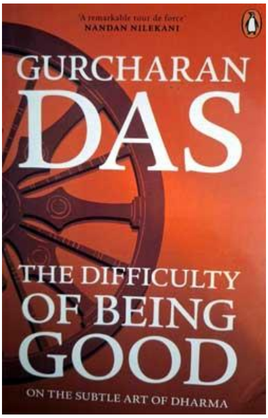

मनुष्य स्वाभाविक रूप से अच्छाई की तलाश करता है और बुराई से बचने की कोशिश करता है। प्रश्न है कि हमें अच्छा क्यों होना चाहिए? हम कैसे अच्छे बन सकते हैं या फिर अच्छा व्यक्ति होना क्या है? यह चर्चा अत्यन्त गहरी और जटिल है। सबसे अधिक कठिनाई तब उपस्थित होती है जब हम अच्छे बनना चाहते हुए भी अच्छे नहीं बन पाते हैं। 'अच्छा' शब्द यद्यपि बहु-अर्थीय है, फ़िलहाल इसे हम नैतिक मूल्यों से जोड़ कर ही देखेंगे। गुरचरण दास (Gurcharan Das) अपनी पुस्तक "The Difficulty Of Being Good" में दुर्योधन तो साफ साफ कहता है, अच्छा बनने की इच्छा होने पर भी मेरी प्रवृत्ति नहीं होती है, बुराई से छूटने की इच्छा होने पर भी उससे निवृत्ति नहीं होती है।

यूँ तो संपूर्ण प्राणी जगत सुख की खोज में ही जीवन की सार्थकता को देखता है। पर कभी कभी ऐसा समय आता है जब सब कुछ निरर्थक लगने लगता है। पशुओं के लिए यद्यपि यह कोई समस्या नहीं है क्योंकि वे प्राकृतिक आवास में ही संतुष्ट हो जाते हैं। समस्या उत्पन्न होती है मनुष्य के साथ जिसमें विवेक और इच्छा का एक अजीब द्वंद्व चलता रहता है। कभी तर्क की अति से और कभी भाव की अति से वह जीवन मूल्यों से खिसक जाता है और उसे एहसास होता है कि इस जीवन का कोई मूल्य नहीं है।

हमारे पास सिर्फ दो ही चश्मे नहीं होते हैं देखने के — अच्छाई और बुराई, सत्य और मिथ्या, काला और सफ़ेद। इन दोनों के बाहर या बीच कई अन्य विकल्प भी होते हैं, जिसे अक्सर नज़रन्दाज कर दिया जाता है। किसी मटमैले रंग की तलाश! उदाहरण के लिए बाज़ार में तमाम चीजे है, कुछ समझ नहीं आता क्या खरीदें और क्या न खरीदें। रेस्टोरेंट में आर्डर करते

समय समझ में नहीं आता क्या आर्डर करें और क्या न करें, कपड़े खरीदने के वक्त भूल जाते हैं कि पॉकेट की कितनी क्षमता है! कब झूठ बोलना चाहिए कब नहीं! हमें अहिंसक होना चाहिए कि नहीं ! हमें रास्ते में पड़े किसी अजनबी की सहायता करनी चाहिए कि नहीं! कितने असहाय लोगों की मदद की जानी चाहिए! अन्याय का प्रतिवाद करने में कहीं अपनी जान ही न गंवानी पड़े! परिस्थितियां जब अजीब हो तो हम कैसे सच बोल सकते हैं! जब प्राण रक्षा करना अनिवार्य हो जाए तो हम कितना लचीला बना सकते है स्वयं को! जब अधर्म सामने खड़ा हो तो हम उसका सामना कैसे करें? इसी असमंजस और उधेड़बुन में व्यर्थता का आभास होने लगता है। हमारे पास या तो कोई मानक नहीं है अथवा हम पुराने मानकों को मानना नहीं चाहते है। यह प्रश्न कोई नया नहीं है। महाभारत युग से ही कट्टर नैतिकता के विपरीत एक गतिशील नैतिकता को सिर उठाते देखा गया था। द्रौपदी जब युधिष्ठिर से पूछती है 'किसको पहले दांव पर लगाया था मुझे या स्वयं को? कृष्ण, अर्जुन, कुंती, धृतराष्ट्र सभी इन नैतिक प्रश्नों के दायरे से छूटते नहीं हैं। कौन सा मार्ग उपयुक्त है?

एक ओर नैतिक निरपेक्षता कहती है, 'चोरी करना गलत है', 'सत्य बोलना हर परिस्थिति में उचित है', जो गुरुत्वाकर्षण सिद्धांत की तरह सार्वभौमिक सत्य है। क्या हम चाहेंगे 'चोरी करना' तार्किक रूप से एक सार्वभौमिक नियम बन जाए? मान लिया जाए एक हत्यारा मुझे पकड़ने के लिए दौड़ रहा है, और मैं सामने पड़ी कार को चुराकर भाग सकती हूँ, पर नैतिकता का सिद्धांत मुझे ऐसा करने से रोकता है। ठीक उसी समय बन्दूक की गोली मेरे सिर को चीरकर निकल जाती है। अब मैं एक अस्पताल के बिस्तर पर पड़ी हूं। डॉक्टर ने सी. टी. स्कैन किया और एक बड़ा ट्यूमर पाया और अब मैं बंदूक चलाने वाले को धन्यवाद देती हूँ, जिसने मुझे खतरे से बचा लिया। किन्तु मैं इन नैतिक प्रश्नों को हल करने में अपनी असमर्थता से अभी भी परेशान हूँ।

नैतिकता मानव-मूल्यों की वह व्यवस्था है जो हमारी जीवनशैली को नियंत्रित कर हमें 'लक्ष्य तक ले जाती' है। मूल्य 'प्रतिमान या कसौटी' है, जिसके आधार पर हम अपने कार्यों का, उचित-अनुचित विचार करते हैं। यूँ

नीतियाँ तो कई है, जैसे चन्दन-नीति, कोई काटे या जलाये, उसका काम है खुशबू देना। 'जैसे को तैसा' कोई काटे तो उसे भी काटना ही चाहिए — ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिए। लेकिन यदि कोई अपना प्रिय हो या राजनैतिक प्रसंग हो तो साम-दाम-दण्ड-भेद की कूटनीति अपनानी चाहिए। अब यह हमारे ऊपर निर्भर करता है कि हम किसे प्राथमिकता देना चाहेंगे। उदाहरण के लिए, मूल्यों के टकराव में ईमानदारी को महत्व देने वाला व्यक्ति अपने वरिष्ठ द्वारा वित्तीय घोटाला करने पर चुप नहीं रह पाता है, जबकि दूसरा जो वफ़ादारी को महत्व देता है, वह चुप रह जाता है। एक अन्य समय मित्र को नुकसान पहुँचाने के लिए यदि कोई अपराधी दरवाज़ा खटखटा कर मित्र का ठिकाना पूछता है तो जाहिर है झूठ बोलना पड़ता है।

मूल्य वह मान्यताएँ है जो हमें टूटने नहीं देती, चाहें कितने ही दुर्दिन क्यों न झेलने पडें। एक धावक जो दुर्घटना में अपने पैरों को खो देता है, उसे भी अपने स्वास्थ्य की देखभाल अपने मूल्यों पर करनी पड़ती है। वह अपने जीवन में अन्य तरीकों से अर्थ को खोजने की चेष्टा करता है। मानव समाज की रचना ही पाशविक वृतियों का परित्याग कर शिवत्व की प्रतिष्ठा के लिए हुई है, अन्यथा पशु समाज क्या बुरा है! साहित्य का अर्थ भी 'सहितस्य भाव समुदाय' लोकहित की नैतिकता से जुड़ा है, जो कर्तव्य- भावना से प्रेरित होता है, भले ही परिणाम अच्छे न हों। कोई एकान्त में रह कर नैतिकता का पालन नहीं कर सकता। शास्त्रों के अनुसार भी नैतिक द्वंद्व उपस्थित होने पर यदि कहीं भी आस्था का पड़ाव न मिले तो जो खुद को अच्छा लगे वही करना चाहिए। यहाँ 'खुद को अच्छा लगने का' अर्थ स्वेच्छाचार न होकर, अन्त:करण की पवित्रता से है। इस तरह नैतिकता का स्वरूप बहुत सूक्ष्म और विचित्र होता है, जो विवाद का विषय भी बन जाता है। दृष्टान्त स्वरूप जब कोई बड़ा संकट सिर पर हो, तो अपनी या दूसरों की प्राण-रक्षा के लिए नैतिकपथ से थोड़ा हटना भी उचित माना जाता है। अकाल के समय भूख से बिलबिलाते हुए उषस्ति चाक्रायण ऋषि ने एक हाथीवान से जूठी उड़द खाना स्वीकार किया, लेकिन जूठा पानी पीना मंजूर नहीं किया, क्योंकि तब तक वे अपने प्राणों की रक्षा कर चुके थे। इसी तरह गुप्तचर

आदि भी विषम परिस्थिति में झूठ बोल सकते हैं। ये सब नैतिक अपवाद आपद्‌धर्म कहलाते हैं। महाभारत युद्ध में, पाण्डवों को हार की कगार पर देख कर युधिष्ठिर ने अश्वत्थामा के विषय में झूठ बोलना स्वीकार किया।

इस टकराव को दर्शाने वाली एक कहानी प्रसिद्ध नाटककार बार्थोल्ट ब्रेख्त की "The Good Person of Szechwan" में देखी जा सकती है। इस कहानी में तीन देवता पृथ्वी पर अच्छे इंसानों की तलाश में आते उन्हें शेन तेई नामक एक महिला मिलती है जो उन्हें रात भर आश्रय देती है। वे उसकी भलाई से प्रभावित होकर उसे धन देते हैं ताकि वह एक नई ज़िंदगी शुरू कर सके। शेन तेई एक तंबाकू की दुकान खोलती है, लेकिन उसकी भलमनसाहत का लोग फायदा उठाने लगते हैं। शेन तेई को अपनी भलाई बचाने के लिए एक कठोर, चालाक पुरुष' का रूप अपनाना पड़ता है— शुई ता (Shui Ta)। यह रूप उसे व्यावसायिक निर्णय लेने और लोगों की मांगों से निपटने में मदद करता है, लेकिन उसकी मूल पहचान छिप जाती है। देवता लौटते हैं और शेन तेई से पूछते हैं कि क्या वह अब भी "अच्छी इंसान" है। वह रोते हुए स्वीकार करती है कि अच्छाई को बनाए रखना असंभव है जब समाज लालच और शोषण से भरा हो। यह द्वंद्व उस समाज का है जो अच्छाई को टिकने नहीं देता।

हम यह नैतिकता की बहकी बहकी बातें क्यों करने लगे जबकि बात तो कला की करनी थी। कारण है कला का मूल्यांकन नैतिक दृष्टिकोण से भी किया जा सकता है। पंचतंत्र की कहानियां हमें परोक्ष रूप से नैतिक संवेदनशीलता को विकसित करने की क्षमता देती है। कलाकृतियों के नैतिक रवैये की आलोचना करने पर भी हम किसी कलाकृति की कलात्मक खूबियों की प्रशंसा कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यंगात्मक कार्टून या उक्ति किसी नेता के सम्बन्ध में नैतिक रूप से कुत्सित हो सकती है, पर लोगों को सचेतन करने के उद्देश्य से सफल कही जा सकती है। कला और नैतिकता के बीच यह सम्बन्ध दार्शनिक शोध का एक खुला क्षेत्र है। एक कथा में इसका रहस्य छिपा है।

एक दिन एक व्यक्ति ने गुरु से पूछा, ‘जीवन का मूल्य क्या है?' गुरु ने उसे एक पत्थर देकर कहा इसका मूल्य बाज़ार में जाकर पता करो, लेकिन

इसको बेचना नहीं।' वह व्यक्ति पत्थर लेकर एक संतरे बेचने वाले के पास, सब्जी वाले के पास, सुनार के पास और जौहरी के पास लेकर पहुंचा और उसकी कीमत पूछी। उत्तर में कोई संतरा, कोई आलू, कोई ५० लाख तक देने को तैयार था। अंत में जौहरी ने जब उस बेशकीमती रुबी को देखा तो पहले उसने रुबी को एक लाल कपड़े पर रखा , फिर उसकी परिक्रमा लगाई, और बोला, ये बेशकीमती रूबी की कीमत सारी दुनिया को बेचकर भी नहीं लगाई जा सकती।' वह व्यक्ति हैरान-परेशान, पर गुरु कृपा से समझ गया कि व्यक्ति की सोच ही निर्धारित कर देती है कि जीवन को कितना बेशकीमती बनाया जा सकता है। हमें यह तय करना होता है कि मूल्यों में जब टकराहट हो तो हमारे लिए कौन सा मूल्य सबसे ज़्यादा मायने रखता है। मूल्यों को जीने का कोई एक निर्धारित तरीका नहीं है। ख़ाली जेब वाला फ़कीर बारिश में झूमकर नाच सकता है, लेकिन जिसकी जेब में रुपया भरा हुआ हो, उसकी प्राथमिकता होती है जेब में भरे रुपए को भीगने से बचाना! प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक Immanuel Kant के शब्दों में—

“What is relative to (our)... need has a market price: what accords with a certain taste... has a fancy price; but that which ...is an end in itself, having no relative value (that is, unconditional) is, Dignity” l

(अप्रैल, १५, २०२५)

३२

(डॉ मधु कपूर के पिछले लेख का प्रश्न कि मुझे अच्छा क्यों बनना है, इस बार भी कुछ दूर तक तो हमारे साथ चल रहा है और इस बार इस प्रश्न का उत्तर अस्तित्ववादी डेनिश दार्शनिक Søren Kierkegaard के माध्यम से खोजा जाएगा। इसके अलावा भी लेख में बहुत कुछ है जिसका सार हम यहाँ तभी तो देते जब अपने पर यह विश्वास होता कि पूरी बात ठीक से समझ आ गई है। ऊपर वाले से दुआ है कि डॉ मधु कपूर मैम की यह क्लास चलती रहे ताकि हम और हमारे दोस्त जिनके लिए philosophy बिल्कुल नई चीज़ है, दर्शन-शास्त्र के हाशिये पर तो खड़े हो सकें!)

अस्तित्व की उठान, सौन्दर्य का उन्मेष और नीति के नूपुर

हमें 'अच्छा क्यों होना चाहिए' इस प्रश्न का उत्तर अस्तित्ववादी डेनिश दार्शनिक Søren Kierkegaard अपनी कालजयी रचना Either/Or: A Fragment of Life, में आत्म-विभाजित द्वैत सत्ता —Aesthetic self और Ethical self — का संघर्ष उजागर करते हैं। वे अक्सर रूपकों के माध्यम से अस्तित्व की आत्मिक उन्नति का उल्लेख करते हैं। वे कहते है 'हम ज्यादातर बहुमंजलीय इमारतों में निवास करते हैं, पर रहना पसन्द करते हैं तलकक्ष में। वास्तव में अस्तित्व की शुरुआत तो यहीं से आरम्भ हो जाती है'। प्राथमिक स्तर पर Aesthetic से उनका तात्पर्य ललित कला से न होकर ऐन्द्रिक सुख मात्र से है, जिसका सम्बन्ध न तो नैतिकता से होता है और न ही किसी परंपरा से। उदाहरण के लिए बच्चे सहज रूप से यानी बिना किसी सोच विचार के चीजों को लपकने का प्रयास करते हैं—आग की चमक को छूना चाहते हैं, रेंगता हुआ सांप पकड़ना चाहते हैं, चीजों को मुंह में डाल कर स्वाद चखना चाहते हैं, चाँद को पाना चाहते हैं— इनसे होने वाले खतरों का उन्हें कोई एहसास नहीं होता है। कहने का अर्थ है कि सुख की तलाश उनके के लिए न तो अच्छी होती है और न ही बुरी। यह सिर्फ एक महज-सहज आकर्षण होता है, जिसे वह बिना किसी सोच-विचार के पाना चाहते हैं।

लेकिन सुख पिपासु व्यक्ति धीरे धीरे सुख के आकर्षण में इतना लिप्त हो जाता है कि वह नित नए नए तरीकों से उसे पाने के लिए भटकता रहता है। दुर्भाग्य यह है कि जितना अधिक वह सुख का सन्धान करता है उतना ही वह उसे पाने में विफल हो जाता है। जिसे 'सुख का विरोधाभास' भी कहा जाता है। कभी वह ब्रांडेड कपड़े खरीदता है, कभी सोशल मीडिया का अकाउंट चेक करता है, घंटों फ़ोन पर व्यर्थ की बातों में लगा रहता है इत्यादि। एक ही काम को बारबार करने से उसे ऊब महसूस होती है, फलस्वरूप वह जीवन को व्यर्थ और मूल्यहीन समझने लगता है। ऐसा

व्यक्ति सभी सामाजिक सम्बन्धों से विच्छिन्न होकर एक निर्वासित कृत्रिम जिन्दगी बिताने को मजबूर हो जाता है। आत्मनिर्वासन एक आधुनिक बोध है, जो व्यक्ति को आस्था की जमीन से खिसकाकर स्वतंत्रता की अँधेरी गलियों में धकेल देता है।

वह सिर्फ दर्शक की तरह निष्क्रिय होकर सुख का उपभोग करना चाहता है, जैसे क्रिकेट मैच का लुत्फ़ उठाने वाला दर्शक। खेल में उसकी कोई सक्रिय सहयोगिता नहीं होती है। खेल की जटिलता और गंभीरता को वह उपलब्ध नहीं करता है और इसी तरह का रवैया वह जिन्दगी के प्रति भी अपनाता है, अतः जीवन में आने वाले संघर्षों का मुकाबला करने में असमर्थ हो जाता है। इस तरह व्यक्ति एक भटकती आत्मा की तरह अपने जीवन की एकात्मता को खो देता है। आधुनिक जीवन की यह बिडम्बना मूल्यबोध के अभाव का संकेत करता है। किर्केगार्ड की रचना का एक बुर्जुआ लेखक कहता है : "मुझे कुछ करने की कोई इच्छा नहीं होती है। मुझे चलने की इच्छा नहीं होती है क्योंकि वह थकान पैदा करता है, मुझे लेटने की इच्छा नहीं होती है..... या तो मुझे स्थिर होना पड़ेगा अथवा उठना पड़ेगा मुझे दोनों में से कुछ भी करने की इच्छा नहीं होती है।" वह सोचता है कि कुछ करने के लिए 'अवसाद में होना' बहुत जरूरी है, जो एक तरह का विरोधाभास है कुछ 'न करने का'।

उनके अनुसार अवसाद से उबरने का एकमात्र उपाय है मूल्यों के प्रति विश्वास तथा सुख की खोज का अतिक्रमण कर अपने कर्तव्यबोध के प्रति जागरूक होना, क्योंकि जैसे ही हम भीड़ के साथ चलना शुरू कर देते हैं या निष्क्रिय भाव से परंपरा स्वीकार कर लेते हैं वैसे ही हम अपने दायित्व से पल्ला झाड कर खड़े हो जाते हैं। सुख में निहित विरोधाभास और विसंगतियों से त्राण पाने के लिए आत्मचेतना को जाग्रत करना अनिवार्य है। 'कुछ न कर पाने का अपराध बोध' यदि व्यक्ति को नैतिकता की ओर मोड़ दे तो aesthetic self उदात्त होकर समृद्ध हो जाती है। इस स्तर को किर्केगार्ड नैतिक आत्मा की संज्ञा देते है। नैतिक जीवन दायित्वों से भरा होता है, जो निराशा और उदासी से व्यक्ति को उबरने का मौका देता है तथा इसके मध्य सुख की तलाश का मार्ग भी प्रशस्त कर देता है।

किर्केगार्ड बारबार चेतावनी देते हैं कि यह चुनाव व्यक्ति को स्वयं करना पड़ता है कि वह किस आत्मा का चयन करेगा — aesthetic self या ethical self। यदि वह aesthetic self का चुनाव करता है, तो निराशा का चयन भी स्वतः ही हो जाता है और दायित्वहीन जीवन बिताने के लिए वह स्वतंत्र हो जाता है। दूसरी ओर नैतिक आत्मा का चयन उसे दायित्वशील बनाता है। उसके व्यक्तित्व में यह बदलाव सही अर्थों में उसे कलात्मक उत्कर्ष देता है।

अक्सर नैतिकता के स्तर पर भी एक प्रकार का संकट मंडराता है, जब व्यक्ति की आस्थाएं डगमगाने लगती है, जैसा कुरुक्षेत्र के मैदान में अर्जुन के सामने नैतिक संकट उत्पन्न होता है —स्वजनों का संहार अथवा धर्म की रक्षा। यह संकट दुधारी तलवार की तरह है। यद्यपि युद्ध से पलायन करने की इच्छा से यह खेल आत्मा ही खेलती है, और अर्जुन विषादग्रस्त हो उठता है। लेकिन सभी परिस्थितियों को स्पष्ट करने के बाद श्रीकृष्ण अर्जुन पर ही चयन का दायित्व छोड़ देते हैं ।

किसी एक प्रसंग में विचारपति विल्हेल्म (ग्रन्थ का एक पात्र), चुनौती देता है कि "क्या तुम नहीं जानते कि मध्य रात्रि में हम सभी अपने अपने मुखौटे उतार देते हैं, इस मुखौटे को छिपाने के लिए कहीं और पलायन करने का ढोंग रचते हैं।' व्यक्ति अपने द्वैत अस्तित्व की विडम्बना का शिकार होकर असली पहचान खो देता है। अपने अंतर्विरोधों की पीड़ा का अंत आत्म-सचेतन होकर 'विश्वास की एक छलांग' (leap in faith) लगाकर तीसरे स्तर में प्रवेश करके वह कर सकता है, जिसे किर्केगार्ड आध्यात्मिकता का स्तर या Religious self कहते हैं ।

रजत कपूर द्वारा निर्देशित तथा संजय मिश्र द्वारा अभिनीत "आँखों देखी", फिल्म का उल्लेख यहाँ प्रासंगिक होगा। यह एक बूढ़े पात्र बाउजी की कहानी है, जिसका विश्वास सिर्फ उन्हीं चीजों पर है जिन्हें वह देखता है और अनुभव करता है। इसी विचारधारा के तहत वह किर्केगार्ड के विचारों का प्रवक्ता बन जाता है— 'बात एक सत्य को खोजने की है, जिसके लिए मैं जी सकता हूँ या मर सकता हूँ।' फिल्म में बाउजी का किरदार प्रतिबद्ध है उड़ान का अनुभव प्राप्त करने के लिए, जो स्वेच्छा से लिया गया उसका

निर्णय है। जब कुछ लोग बाउजी का अनुसरण भक्त की तरह करने लगते हैं, तो वह उन्हें अपना सत्य स्वयं खोजने की सलाह देता है। बॉक्स ऑफिस की दृष्टि में असफल होने पर भी फिल्म एक नई दार्शनिक ऊँचाईयां छू लेती है।

कुछ आलोचक किर्केगार्ड पर पारम्परिक 'सुन्दरता की धारणा' को तोड़ने का आरोप लगाते हैं, क्योंकि वे अपनी अस्तित्ववादी विचारों के तहत कला के असली उद्देश्य की उपेक्षा कर जाते हैं। हालाँकि The Concept of Irony प्रबंध में वे सार्थक और गतिमान जीवन के लिए कला के मूल्य को नकारते नहीं है। वे स्वयं लेखक थे। वे लोगों को कवि की तरह सूक्ष्म अनुभूतियों को वास्तव जीवन में हर क्षण उपलब्ध करने की सलाह देते थे। जीवन की सार्थकता इस बात पर निर्भर करती है व्यक्ति कैसे अपनी आत्मा में निहित आत्मीयता की खोजकर, उसके सबसे अँधेरे कक्ष यानी अर्थहीनता को मूल्यवान बनाने में जुट जाता है। उनके अनुसार जब तक कला हमारे अँधेरे-कक्ष को उजागर न करे वह व्यर्थ है।

किर्केगार्ड मानते हैं कि सुन्दरता और नैतिकता के बीच 'विडंबना' एक धाई का काम करती है, जो व्यक्ति को नवजन्म देकर एक झूठी जिन्दगी से बचा कर प्रामाणिकता का कवच प्रदान करती है।

उनके अनुसार अर्थहीनता का बोध कृत्रिम एहसास नहीं है, क्योंकि इसी बिडम्बना के माध्यम से व्यक्ति अपनी अंदरूनी अर्थपूर्ण अनंत सम्भावनाओं की तलाश करता है। स्वच्छ आकाश की तरह खाली कैनवास से इसकी तुलना की जा सकती है, जिसमें बादल के टुकड़े इधर-उधर मंडराते रहते हैं, जिन्हें सृजन-बिंदु कहा जा सकता है। इस तरह अर्थहीनता अथवा विसंगतियों की विडम्बनाएँ सत्य नहीं होती है, पर सत्य का मार्ग जरूर दिखलाती है। सुख हमें निराश जरूर करता है पर सम्भावनायें हमें रास्ता दिखलाती है, तभी हम सही अर्थों में Aesthetic जीवन यापन कर सकते है। किर्केगार्ड इसे संभ्रान्त सौंदर्य (sophisticated Aestheticism) की संज्ञा देते हैं। जिस तरह अभिनेता अपने वस्त्र और किरदार को प्रसंगानुसार बदलता रहता है, उसी तरह व्यक्ति अपनी जीवन पद्धति को परिवर्तित कर सृजनशील बना सकता है। इस तरह कला का मूल्य आत्म-

सापेक्ष होता है, निरपेक्ष नहीं। कला हमें विडम्बनाओं से बाहर निकालकर अंतर्दृष्टि की गहराई में प्रवेश करने का द्वार खोल देती है, जिससे हम कृत्रिम जिंदगी से निजात पा सकें। इस तरह हमारी हर रचना, चाहे वह रसोईघर में खाना बनाना हो या कागज में उकेरी लकीरें हो या जूता सिलाई करना हो, एक नया मोड़ पा जाती है। इस तरह व्यक्ति सब कुछ खोकर कला का मूल्य पाता है। यह एक भविष्यवाणी है। इस प्रसंग में निर्मल वर्मा के शब्द आशा के उन्मेष का संचार करते है: 'एक बार फिर बोधवृक्ष का फल चखना पड़ेगा, ताकि हम अपनी निर्बोध अवस्था में पहुँच सकें।'

(अप्रैल २२, २०२५)

३३

(दर्शनशास्त्र को सुबोधगम्य बनाने के लिए डॉ मधु कपूर ने हमारे लिए और हमारे पाठकों के लिए अपनी यह 'कक्षा' जारी रखी हुई है। इस बार के लेख में आप जानेंगे कि ये 'चाहिए' क्या बला है? कहाँ से आता है ये 'चाहिए' और फिर ये नैतिक निष्कर्ष क्या होते हैं? कैसे पहुंचते हैं हम उन तक? आइए विचार करते हैं इस लेख के माध्यम से!)

‘यह है’ — ‘यह होना चाहिए’:
दर्शनशास्त्र की गुत्थियाँ

‘मुझे पीओ’ और पीने के साथ ही साथ एलिस सिकुड-के छोटी हो जाती है, ‘केक को खाओ’ और खाने के साथ साथ ही वह लम्बी हो जाती है। एलिस रोने लगी और आंसुओं के सैलाब में तैरने लगी, जहाँ उसकी मुलाकात सैकड़ों अजीबोगरीब प्राणियों से होती है। इस विचित्र दुनिया में जहाँ सब कुछ तथाकथित वास्तविक दुनिया की व्यवस्था के विपरीत घट रहा है, अपने बनते-बिगड़ते स्वरूप को देखकर एलिस प्रश्न करती है ‘मुझे किस रास्ते से जाना चाहिए, ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए और मैं असल में कौन हूँ’? (एलिस इन वंडरलैंड’ से)।

हमारे सामने भी रह रहकर यही प्रश्न उपस्थित होता है— ‘हमें अच्छा क्यों होना चाहिए अथवा हम अच्छे कैसे हो सकते हैं ?’ ‘अच्छा होना’ क्या है ? तात्पर्य है कि हम अच्छा होना चाहते हैं। पर जानते नहीं हैं, कैसे अच्छे हो सकते हैं? ‘क्या है’ और ‘कैसा होना चाहिए,’ के बीच की खाई को कैसे पाटा जा सकता है?

शताब्दियों पुराना यह विवाद है— जो ‘नहीं है’ वह हो नहीं सकता, जैसे बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता है, आम के पेड़ से जामुन नहीं तोड़ा जा सकता, गधे को घोड़ा नहीं बनाया जा सकता इत्यादि। इसी तरह ‘नीम को मीठा होना चाहिए’, ‘बिच्छू को काटना नहीं चाहिए’ आदि प्रयोग भी नहीं कर सकते हैं। ‘झूठ नहीं बोलना चाहिए’ और ‘सत्य बोलना चाहिए’ का अर्थ यह कदापि नहीं है कि अब कोई ‘झूठ नहीं बोलता है’ या ‘सभी लोग सत्य बोलते हैं। यह ‘है’ और ‘होना चाहिए’ हमें उलझन में डाल देता है।

आइये एक पल के लिए इस प्रश्न पर विचार करें कि ‘चाहिए’ कहाँ से आता हैं? हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं, वह एक बेजान ब्रह्मांड में तैर रही है, जहाँ केवल पर्वत, चट्टानें, नालें, हवाएँ और बारिश है। अगर एक चट्टान पहाड़ी से लुढ़कती है और कुछ पर्यटकों की मौत हो जाती है या नरभक्षी बाघ जंगल

में किसी का शिकार कर लेता है, तो क्या इनके विरुद्ध कोई नैतिक कार्यवाई की जानी चाहिए ?

सवाल ये भी है कि जो तथ्य है, क्या उसे बदला जा सकता है? जैसे 'दो और दो मिलकर चार होते है,' क्या हम कह सकते है कि 'दो और दो मिलकर पांच होना चाहिए' 'पंडित नेहरु भारत के प्रथम प्रधानमंत्री थे', क्या हम कह सकते हैं कि 'सरदार पटेल को भारत का प्रथम प्रधानमंत्री होना चाहिए था' इत्यादि। डेविड ह्यूम के अनुसार तथ्यमूलक वाक्यों से कभी भी, किसी भी नैतिक निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता है। तथ्यमूलक वाक्य और नैतिक वाक्य को परस्पर जोड़ना वैसा ही है जैसे सिरकटे धड़ की सिलाई करना। ओलिम्पिक पदक जीतने की इच्छा रखने वाला खिलाड़ी कमजोर पैरों से 20 फीट ऊँची छलांग नहीं लगा सकता है, तो उससे यह कहना कि 'तुम्हें यह छलांग लगानी चाहिए' बकवास होगा। इस तरह तथ्यात्मक 'है' वाक्य को 'चाहिए' के फ्रेम में नहीं बाँध सकते है और 'चाहिए' वाक्य को तथ्यात्मक 'है' के चौखटे में फिट नहीं कर सकते हैं।

'क्या हैं' और 'कैसा होना चाहिए' दो भिन्न प्रकार के प्रश्न है। यह भेद प्रकृति में कहीं नहीं है। यह तो मनुष्यकृत भेद है, जो नैतिक द्वंद्व से उत्पन्न होता है। हम प्रतिदिन अनगिनत नैतिक निर्णय लेते हैं, जो तथ्य वाक्यों की सत्यता पर ही निर्भर करते हैं। उदाहरण के लिए तथ्यात्मक वाक्य 'झूठ बोला जाता है.' 'चोरी की जाती है', का नैतिक मूल्यांकन हम करते हैं — 'झूठ नहीं बोलना चाहिए', 'चोरी नहीं करनी चाहिए'। यदि किसी व्यक्ति के लिए कहा जाए कि 'यह रसोइया है' तो उम्मीद की जाती है कि उसे खाना बनाना आना चाहिए। यदि कोई वादा करता है कि 'मैं तुम्हारा उधार अगले महीने चुका दूंगा' तो उसे उधार चुका देना चाहिए। मीठा खाने का लोभ मधुमेह के मरीज को खतरे में डाल सकता है, इसलिए लोभ को संयमित करना चाहिए। इस तरह बिना मूल्यांकन के तथ्य अपनी मर्यादा खो देते हैं।

अक्सर शर्त-सापेक्ष वाक्य 'चाहिए' पद से व्यक्त किये जाते है। जैसे 'यदि परीक्षा में प्रथम श्रेणी पाना चाहते हो, तो नियमित पढना चाहिए' अथवा 'यदि बारिश से बचना चाहते हो, तो छाता प्रयोग करना चाहिए।' हत्या करने के समय यदि कम मात्रा में जहर दिया जाता है, तो हत्या का मामला

सफल नहीं होगा। ऐसी अवस्था में हत्यारा सोचता है कि 'अधिक मात्रा में जहर देना चाहिए था।' माएँ अक्सर बच्चे से कहती है 'यदि तुम अच्छा बच्चा बनना चाहते हो तो तुम्हें जल्दी से दूध पी लेना चाहिए.' शर्त-सापेक्ष वाक्यों की विशेषता यही है कि वे किसी न किसी उद्देश्य पालन का निर्देश देते हैं, जो नैतिकता का बोध नहीं भी करवा सकते है। फ़िलहाल इस लेख में 'चाहिए' शब्द का प्रयोग नैतिक अर्थ में ही किया जायेगा।

जर्मन दार्शनिक Immanuel Kant (1724-1804) इसके विपरीत कहते है कि नैतिक परिप्रेक्ष्य में 'करता है' और 'करना चाहिए' के बीच कोई अंतराल या खाई नहीं होती है, क्योंकि नीति का नियम है कि जो हमें करना चाहिए, वह हम कर सकते हैं। जो हमें नहीं करना चाहिए, वहां हम कह ही नहीं सकते कि 'हमें करना चाहिए.' जब कोई बीस फीट ऊँचा कूद नहीं सकता तो यह कहना बेकार है कि उसे पदक पाने के लिए बीस फीट कूदना चाहिए। उनके अनुसार नैतिक नियम विशुद्ध विवेक पर आधारित है, अतएव यदि कोई कहता है कि वह बीस फीट कूद सकता है तो उसे कूदना चाहिए। उनके अनुसार नैतिक वाक्य शर्त निरपेक्ष होते हैं।

इस सन्दर्भ में वैदिक ऋत की धारणा का उल्लेख करना प्रासंगिक हैं जिसका अर्थ है जगत की व्यवस्था और संतुलन करने वाला सिद्धांत। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, दिन, रात आदि इसी नियम के द्वारा संचालित होते हैं। ऋत को ब्रह्मांडीय व्यवस्था की अंतहीन लय के रूप में देखा जाता है और समाज में यही नैतिक कानून के रूप में लागू होता है, जो जीवन को व्यवस्थित और नियमित करता है। कहने का तात्पर्य है कि ऋत की धारणा में 'हैं' (तथ्य) और 'चाहिए' (मूल्यांकन) में कोई व्यवधान नहीं है। ऋत का अर्थ है, जो होना चाहिए वही होता है। इसे किसी भी अर्थ में नियति के समकक्ष नहीं लिया जाना चाहिए। इस पर हम फिर कभी बात करेंगे।

मानवीय प्रसंग में 'है' और 'चाहिए' का द्वंद्व स्वाभाविक है, क्योंकि मनुष्य का अस्तित्व दैवीय नहीं है, वह केवल विवेक से संचालित नहीं होता है तथा वह पूर्ण रूप से पाशविक भी नहीं है, क्योंकि वह सिर्फ आवेग से नियंत्रित नहीं होता है। भावना और तर्क के द्वंद्व में वह फंसा रहता है। अतएव उसके

नैतिक चरित्र की उत्कृष्टता द्वंद्व से उबरने की है, जो सद्‌गुणों के अभ्यास पर निर्भर करता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू के अनुसार 'है' और 'चाहिए' के बीच की खाई को पाटा जा सकता है। अच्छा क्या है, इस प्रसंग में वे अच्छी वस्तुओं की कोई सूची इकट्ठा नहीं करते हैं, जैसे —अच्छी दोस्ती, अच्छा स्वास्थ्य, अच्छा यश और अच्छा साहस का प्रदर्शन इत्यादि। उनकी खोज सर्वोच्च अच्छाई की खोज है। इसी तरह सत्य कब बोलना चाहिए? इसकी वे तालिका नहीं बनाते हैं। हम कब अच्छे होते हैं, इसका कोई पैमाना नहीं है। कुछ अपवादों को छोड़ कर व्यक्ति मानक स्वयं खोज लेता है। किन्तु मानक वह क्षैतिज रेखा है जहाँ हम पहुँच नहीं सकते है, पर पहुँचने की कोशिश करते रहते है। अरस्तू इस मानक को दो चरम सीमाओं के बीच की स्थिति को मानते हैं । उदाहरण के लिए, साहस दिखलाना सद्‌गुण है लेकिन जहाँ साहस दिखलाना खतरे से खाली न हो वहां साहस दिखलाना वेबकूफी है, अर्थात कायरता और उतावलेपन के बीच के मार्ग को अपनाना ही साहस है। कभी-कभी केवल थोड़ी मात्रा में क्रोध करना उचित होता है, लेकिन अन्य समय परिस्थितियाँ जब बहुत अधिक क्रोध की माँग करती हो, तो हमें अपनी मर्यादा का विचार करना चाहिए।

आत्म-विश्वास का अर्थ अहंकार और आत्म-हीनता के मध्य की स्थिति में ठहरना है। अरस्तू इस मध्य-मार्ग (golden mean) की नीति को अपनाते हैं। यद्यपि यह सांख्यिकी औसत (statistical mean) की तर्ज़ पर निर्णय लेने का सुझाव देता है, पर चूँकि हर व्यक्ति की परिस्थिति अलग अलग होती है, इसलिए इस अंतर्दृष्टि का अभ्यास अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। एक अच्छा शिल्पकार जैसे अपनी कलाकृति में संतुलन, अनुपात और सामंजस्य स्थापित कर, निरंतर अभ्यास से सुन्दर सृजन करता है, उसी तरह सद्‌गुणी व्यक्ति अपनी अंतर्दृष्टि के द्वारा नैतिक निर्णय की सूक्ष्मताओं को पहचानकर निर्णय लेता है। हालाँकि ऐसा कोई किताबी नियम नहीं है। अरस्तू का नीति सिद्धांत eudaimonia, (happiness) की खोज है, जो साधारण ख़ुशी से पृथक एक अद्‌भुत संतुष्टि प्रदान करने वाला होता है।

इसका सम्बन्ध वे kalon—पद से जोड़ते है जिसका अर्थ होता है 'मर्यादित' और 'सुन्दर' जो नैतिकता को नई ऊँचाइयां प्रदान करता है।

पहले भी इस मत के ही समान आधुनिक अस्तित्ववादी दार्शनिकों का उल्लेख किया जा चुका है। मानव अस्तित्व स्वयं एक कलाकृति है जिसे हम नैतिक कर्तव्य बोध और मूल्यों से गूंथते हैं। किसी याचक को दरवाजे पर धक्का देकर बासी रोटी का टुकड़ा फेंक देना या नचिकेता के पिता के द्वारा बूढी, पीली, दुर्बल तथा दुग्ध देने में अक्षम गायों का दान करना, एक विकृत मनोवृत्ति का प्रदर्शन है। 'दान देना' व्यक्ति को महत नहीं बनाता है, 'दान देने की प्रक्रिया' व्यक्ति को महत बनाती है, यद्यपि इसकी कोई सीमा नहीं है।

(मई ०३, २०२५)

३४

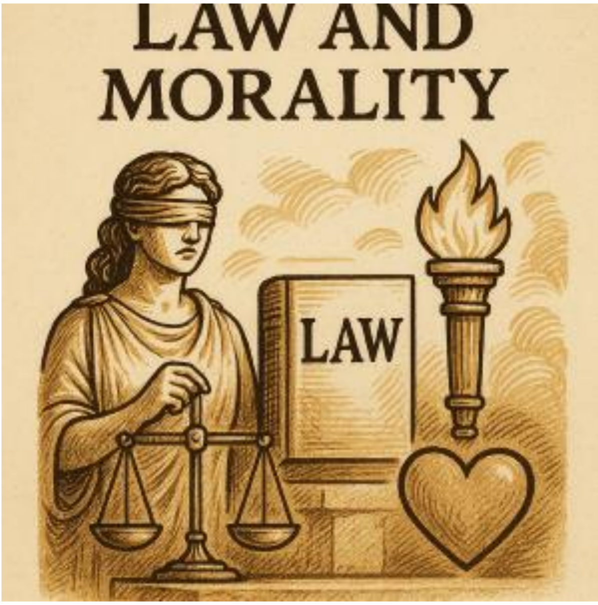

(कानून और नैतिकता सतत प्रवाह में संवाद करते हैं—कभी टकराते हुए, तो कभी परस्पर प्रभावित होते हुए। जब अन्याय और विद्रूपता असहनीय हो उठती हैं, तब कठोर कानून लोहार की एक निर्णायक चोट की तरह वार करता है—एक ऐसा प्रहार, जो सौ धीमे आघातों से अधिक प्रभावशाली होता है। परंतु जब चोट गहरी हो जाती है और पीड़ा केवल दंड से नहीं मिटती, तब कानून की कठोरता को नैतिकता की करुणा से सींचकर एक संभावित पुल का निर्माण किया जाता है, जिससे समाज का आत्मीय पुनर्वासन संवेदना की ओर लौटने लगता है।)

कानून और नैतिकता:
अनन्त धड़कनों में स्पंदित न्याय

"मुद्दत पहले वह दुकान का मालिक था, अब नए तंत्र के नीचे, सरकार उसकी मालिक थी, उन किताबों की भी —जो उसके बाप-दादाओं ने पहली लड़ाई के जमाने से जमा की थीं । दुकान वही थी, लेकिन रातों-रात कानून की लकीर उसके और बाप-दादा की विरासत के बीच एक-खाई सी खोल गई थी। काउन्टर पर वह अब भी बैठता था—पहले की तरह । अब किताबों से उसका रिश्ता कुछ वैसा ही था, जैसे कोई बाप जीते-जी अपने बच्चों को अनाथालय में देखता है।" (निर्मल वर्मा की 'आदमी और लड़की' कहानी से उद्‌धृत) ।

इन पंक्तियोँ से स्पष्ट है कि नैतिकता और कानून एक दूसरे के नजदीक होने पर भी, कहीं न कहीं एक दरार के इस पार और उस पार रहते हैं। उदाहरण के लिए सिर्फ पेट भरने के लिए चोरी करने वाले बालक और आत्म-रक्षा के लिए हत्या करने वाले व्यक्ति के विरुद्ध कानून एक बड़ा प्रश्नचिह्न खड़ाकर देता है। न्यायाधीश शायद यह नहीं चाहता है कि चोरी या हत्याकारी को इस परिस्थिति में सजा मिलनी चाहिए, हालांकि कानून कहता हैं कि अगर चोरी या हत्या की है तो दंड मिलना चाहिए। वहीँ दूसरा न्यायाधीश सहानुभूति के साथ सोच सकता है, 'क्या मैं भी ऐसा ही करता?' और नैतिकता के आधार पर उन्हें सजा से मुक्त कर सकता है। दो विचारधाराओं के बीच तुलना बेहद दिलचस्प है।

एक ओर कानून मनुष्य की नैतिकता को जाग्रत कर देता है, दूसरी ओर नैतिकता कई बार कानून बदलने का कारण बन जाती है। उदाहरण के लिए दास प्रथा, सती प्रथा, महिलाओं का चुनाव प्रक्रिया में शामिल होना इत्यादि के विरुद्ध कानून नैतिकता के आधार पर ही बनाए गये। जीवन के किसी भी क्षेत्र में कानूनी आवश्यकताएँ और नैतिक विचार अक्सर एक-दूसरे से टकराते हैं, यद्यपि दोनों का सम्बन्ध न्याय और अन्याय का निर्णय

करना ही होता है। कानून के बिना समाज अराजकता और अव्यवस्था का शिकार हो जाता है, तथा नैतिकता के बिना समाज असंवेदनशील हो जाता है।

यह सच है कि हम पृथ्वी के अन्य प्राणियों के साथ जीवन को साझा करते हैं, क्योंकि हमारी समस्याएं, हमारे सुख दुःख, हमारी आवश्यकताएँ हमें एक अदृश्य बंधन से बाँध देती है। समाज की मदद के बिना मनुष्य का अस्तित्व अर्थहीन हो उठता है। लेकिन ये बंधन कभी कभी इतने असहनीय हो जाते हैं कि हम न्याय की गुहार भी लगाने लगते हैं और अपने आत्मीय परिजनों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा भी कर देते हैं। कभी बहुएं ससुराल के विरुद्ध, कभी वृद्ध माँ-बाप बच्चों के प्रति, कभी बच्चें माँ-बाप के विरुद्ध शिकायतें लेकर अदालत में पहुँच जाते हैं। कभी दोस्त अपने दोस्त का ही गला काट देता है। अख़बार के पृष्ठ, दूरदर्शन की ख़बरें प्रायः ऐसी ही दास्तानें बयान करती है। यदि दुनिया में सभी अच्छे होते तो कानून की कोई आवश्यकता ही नहीं होती।

कानून पत्थर की लकीर होता है । एक लैटिन कहावत के अनुसार (Fīat iūstitia ruat cælum —फिएट जस्टिटिया रूएट कैलम), "आसमान गिरने पर भी न्याय किया जाए"। जबकि नैतिकता अधिक लचीली होती है। नैतिकता का लचीलापन और कानून की कठोरता दोनों ही मनुष्य की अद्वितीय क्षमता का परिचायक है। लेकिन यही वह क्षमता भी है जो हमें अनैतिक व्यवहार करने पर मजबूर भी कर देती है। जैसा कि ग्रीक विचारक अरस्तू कहते हैं, 'मनुष्य अपने सबसे अच्छे रूप में सभी जानवरों में श्रेष्ठ है, किन्तु कानून और न्याय से पृथक वह सबसे बुरा है'। उदाहरण के लिए सुकरात को एथेंस के कानून के तहत विषपान करने का हुकुम मिला, पर उन्होंने कानून का पालन करना आवश्यक समझा। यद्यपि उनके शिष्यों ने इसे अनैतिक मान कर, उन्हें शहर छोड़ने तथा पलायन करने का भी परामर्श दिया था। लेकिन सुकरात ने कानून का उल्लंघन न करने को ही अपना कर्त्तव्य समझा।

दूसरी ओर महान नाटककार सोफोकल्स अपनी कृति एंटीगोन में दिखलाते हैं कि नाटक का केन्द्रीय चरित्र एंटीगोन राजा के आदेशों की अवहेलना

करके नैतिक विश्वास से प्रेरित होकर अपने भाई को गुप्त रूप से दफना देती है, जिसे शासन के प्रति विद्रोह के कारण दंड के रूप में दफनाए न-जाने की सजा दी गई थी। फलस्वरूप, कानून और नैतिकता के बीच भयंकर टकराव उत्पन्न हुआ। नाटक एक त्रासदी में बदल गया। एंटीगोन गिरफ्तार हुई और उसे मौत की सजा का सामना करना पड़ा ।

कानून और नीति का चलन अक्सर इस तरह उलझे रहते हैं कि उनकी सही अभिव्यक्ति मुश्किल में डाल देती है। हालाँकि हर कदम पर आगे बढ़ने के लिए कानून की आवश्यकता होती है। पर "कानून का प्रशासन नहीं है, प्रशासन का कानून है" यह उक्ति इस बात को प्रमाणित कर देती है कि कानून खामियों से भरा होता हैं। उपर्युक्त पंक्तियाँ न केवल प्रशासन पर गंभीर आरोप लगाती है, बल्कि कानून की धज्जियाँ भी उड़ाती है। प्रश्न उठ सकता है कि कानून विवेक के द्वारा नियंत्रित होता है अथवा क्षमता के द्वारा। "जिसकी लाठी उसकी भैंस" यह सिद्धांत सीधे सीधे क्षमता के हाथ में कानून की बागडोर थमा देता है।

अक्सर समाज कानून को पत्थर की लकीर न मान कर, बदलते युग के साथ गतिशील होने की मांग करता है। फलस्वरूप हर व्यक्ति स्वयं को कानून का ठेकेदार समझ बैठता है। अपनी सत्ता की क्षमता के अनुसार कानून का सृजन करने लगता है। तर्क यह दिया जाता है कि जिस तरह लाल रंग कहने से हर व्यक्ति को कुछ अलग अनुभव होता है — ईंट का लाल रंग या टमाटर का लाल या खून का लाल रंग, उसी तरह मानवीय दृष्टिकोण भी भिन्न भिन्न होते हैं, जिसे लचीला बनाने की आवश्यकता है। कठोरता के पिंजर में बद्ध कानून भी लचीला बन कर अक्सर सृजनशील कला का रूप ले लेता है। जब न्यायाधीश ऐसे मामलों पर फैसला सुनाते हैं तो स्पष्ट रूप से वह कानूनी नियम के बाहर एक नया कदम उठाते हैं। कई बार ऐसे प्रसंग सिर्फ पैंतरेबाज़ी में भी बदल जाते हैं।

इसके अलावा अक्सर सुना जाता हैं कि 'अदालत ऐसा निर्णय कैसे ले सकती है जो आम नागरिक को अनैतिक लगता है'? उदाहरण के लिए जेसिका लाल नई दिल्ली में एक मॉडल थी जो एक भीड़ भरी सोशलाइट पार्टी में सेलिब्रिटी बार-बाला के रूप में काम कर रही थी, जहाँ उसे दर्जनों

गवाहों के सामने गोली मार दी गई। चूँकि गोली मारने वाला एक प्रभावशाली अमीर व्यक्ति का बेटा था इसलिए उसे अपराध से बरी कर दिया गया था। किन्तु मीडिया और जनता के भारी नैतिक दबाव के कारण, ट्रायल कोर्ट के फैसले को पलट कर उसे हत्या का दोषी ठहराया।

इस तरह कानूनी निर्णय और नैतिक निर्णय दोनों एक दूसरे के विपरीत होने पर भी एक बिन्दु पर आकर हाथ मिला लेते हैं। जब कोई व्यक्ति नियम तोड़ता है तो कानून जुर्माना, जेल आदि के माध्यम से सज़ा देता है। हालाँकि, जब कोई नैतिक नियम तोड़ता है, तो उसकी सजा सार्वजनिक निंदा या व्यक्तिगत संबंधों की हानि से होता है। कानून लिखित दस्तावेज में होते हैं जबकि नैतिकता मानवीय अंतरात्मा में जन्म लेती है, जो पापी भी हो सकती है और साधु भी।

कुछ लोग समझते हैं कि नैतिक मान्यताओं के कारण मनुष्य को मारना अनुचित है क्योंकि यह जीवन की निरंतरता का उल्लंघन करता है, जबकि ऐसा करने के लिए हमलावर को मारना नैतिक रूप से उचित माना जाता है। मृत्युदंड नैतिक रूप से स्वीकार्य है कि नहीं, इच्छा मृत्यु कितनी उचित है? हालाँकि, संथारा जैन लोगों में आज भी प्रचलित है। एटम बम बनाने की कार्यशाला के प्रमुख ओपनहाईमर आज भी विवाद से परे नहीं है। एटम बम विस्फोट की घटना आज भी नैतिकता पर सवाल उठाती है। अंत में उन्हें कर्त्तव्य की गुहार भगवदगीता के श्लोकों से करनी पड़ी। कहा जा सकता है कानून और नैतिकता एक दूसरे को मजबूत करते हैं तो मजबूर भी कर देते हैं।

बेशक, क़ानूनी निर्णय लेने की प्रक्रिया में और सही समाधान खोजने के लिए कभी-कभी अंतर्दृष्टि संपन्न न्यायाधीश की आवश्यकता होती है, जो नैतिकता की भूमि का मूल्यांकन कर सकें । अरस्तू कहते हैं - "कोई भी क्रोधित हो सकता है... लेकिन सही व्यक्ति पर, सही हद तक, सही समय पर, सही उद्देश्य के लिए और सही तरीके से क्रोधित होना"— कानून की किसी किताब में नहीं लिखा है। कानून न तो सत्य होता है और न ही निष्पक्ष होता है, वह तो अधिकांशतः मानव जीवन की परिस्थितियों से जुड़ा होता है।

रोम के लोगों में चोरी करने की प्रवृत्ति कम देखी जाती थी क्योंकि उन्हें नरक की आग से डर लगता था। लेकिन क्या मनुष्य को अपने निजी व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए वास्तव में ऐसे प्रतिबंधों की आवश्यकता होनी चाहिए? प्रश्न पुनः "है" और "चाहिये" के आवर्त में खड़ा हो जाता है। भारतीय अवधारणा का उद्गम ऋत ऐसी गतिशील व्यापक व्यवस्था पर जोर देता है जिसका उद्देश्य जीवन में धर्म, कानून, नैतिकता के नियम को बनाए रखने में है, जिसकी कड़ियाँ काफी दूर दूर तक फैली है, इसलिए किसी न किसी बिंदु पर आकर घोषणा करनी पड़ती हैं कि 'बात यहीं रोक दी जाए', अन्यथा न्याय और अधिकार की बातों का सिलसिला आरम्भ हो जाएगा।

(मई १७, २०२५)

३५

(इस लेख का उद्देश्य पाठकों के समक्ष यह तर्क सामने लाना है कि जिसे हम तथाकथित न्याय कहते हैं, वह क्षितिज रेखा की तरह क़ानूनी शिकंजे में पड़ कर दूर होता चला जाता है, जिसकी दुर्गति न्याय की देवी की तरह ही होती है जो सत्य को मुकुट पहनाने की इच्छा रखने के बावजूद असमर्थ होती है। इसके अलावा लोभ, क्रूरता, दीर्घसूत्री बहसें और दलीलें तो हैं ही ।)

सत्य की धुंध में न्याय का डगमगाता साया

'अंधा कानून' फिल्म का एक गीत हैं – 'अस्मतें लुटीं, चली गोली, इसने आंख नहीं खोली...'। अन्याय के खिलाफ सुनवाई न होने पर दुनिया का हर इंसान अदालत में न्याय की गुहार लगाता है और न मिलने पर अक्सर लोग इन पंक्तियों को दोहराते हैं कि 'कानून अंधा होता है'। कानून के तहत ही सुकरात को विषपान करने के लिए मजबूर किया गया था। इस तरह अन्याय के चलते न्याय की देवी की आँखों में काली पट्टी बाँध दी गई और कानून को व्यंग्य से अँधा कहा जाने लगा। हो सकता है न्याय की दुर्दशा देखकर न्याय की देवी ने खुद ही शर्म से आँखों पर काली पट्टी बाँध ली हो। देवी के एक हाथ में तराजू है पर इसका एक पलड़ा धन और क्षमता की बोरियों से भारी होकर साधारण जनता के न्यायविचार को पैरों तले कुचल रहा है। कहा तो यह भी जाता है कि कानून के हाथ लम्बे होते हैं, लेकिन उन हाथों की उँगलियों ने भी रुपये और सत्ता को इस कदर दबोच रखा है कि उँगलियाँ भी अवश हो जाती है।

लेकिन १५वीं शताब्दी के अंत में 'आँखों में पट्टी 'औपनिवेशिक प्रभाव के फलस्वरूप निष्पक्षता के अर्थ में व्यवहार किया जाने लगा जो आज तक प्रचलित है। आँखों में पट्टी बाँध कर न्याय की देवी अपराधी की जाति, ओहदा, और पार्टी के रंग से बेखबर रहती हुई बिना किसी भेदभाव के विवादों का हल करती है। उसके एक हाथ में तराजू जो पक्ष-विपक्ष के सबूतों के आधार पर न्याय को तौले जाने का प्रतीक है। हालाँकि, सबूत की कमी के कारण कई बार फैसले गलत भी हो जाते हैं। देवी के दूसरे हाथ में तलवार है जो सत्य और शक्ति का प्रतीक कहा जाता है तथा पोशाक यूनानी-रोमन राजशाही वंश की है।

इन सबके विपरीत हाल ही में सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला लिया कि न्याय की देवी की आंखों से काली पट्टी हटा दी जाए। देवी के हाथ में तलवार की

जगह संविधान की प्रति पकड़ाई जाए, क्योंकि न्याय हिंसा से नहीं संविधान के नियमों के अनुसार होता है। वैसे भी भारतीय संस्कृति में यम न्याय के देवता है और उनकी आँखें न सिर्फ़ बेहतर है बल्कि उन्हें हिसाब किताब का बहीखाता तक देखना पड़ता है।

अब तक अंधे कानून की त्रासदी न्याय की देवी देख नहीं पाती थीं, लेकिन अब वह खुली आंखों से सब देखेंगी। उम्मीद की जा सकती हैं कि उनकी संवेदना जागेगी। स्मरण हो कि महाभारत में गांधारी ने तत्कालीन युग की प्रथानुसार पतिव्रता बनकर अपनी आँखों में पट्टी बाँध ली थी। किन्तु शंका होती है कि यदि वह ऐसा नहीं करती तो शायद धृतराष्ट्र को अंध पुत्र मोह से बचा सकती थी।

पर यह आपत्ति भी निराधार नहीं है कि मूर्ति की आंखों से पट्टी हटा देने भर से क्या कानूनी प्रक्रिया पर कोई असर पड़ने वाला है? क्योंकि आये दिन हम सुनते हैं उच्च पदस्थ अधिकारी तथ्यों को अर्द्धसत्य तथा विकृत सत्य के रूप में पेशकर लोगों को विभ्रांत कर देते हैं। एक ओर कानून की धज्जियां उड़ाते है, दूसरी ओर सत्य को भी धुंधला कर देते है। दलीलों और तारीखों के बोझ तले न्याय भी कुचला दबा पड़ा रहता है। हरिशंकर परसाई की एक कहानी है—

"एक बार नर्क के लोगों ने दीवार तोड़कर स्वर्ग पर कब्जा कर लिया। धर्मराज की अदालत में लंबा मुकदमा चला और नर्क वालों ने मुकदमा जीत लिया। कारण—सारे अच्छे वकील नर्क में थे"। न्याय वकीलों की बाजीगरी ही तो होती है।

न्यायविचार का सीधा-सादा अर्थ है — जिसका जो हक़ हैं उसे वह मिले। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे मनमानी कार्रवाई करने की कोई गुंजाइश नहीं होती है। उनके आपसी हितों में टकराव होना भी लाजिमी है। उदाहरण के लिए हम प्रतिदिन जोर से माइक चलाकर आसपास रहने वाले लोगो को परेशान नहीं कर सकते हैं, बिना ट्रैफिक नियम के गाड़ी नहीं चला सकते हैं, अपने घर का कूड़ा पड़ोसी के दरवाज़े पर नहीं फेंक सकते हैं। ऐसा करना ही परस्पर विवादों को जन्म देता है। विवाद और संघर्ष को

सुलझाने के लिए न्यायायिक प्रशासन की आवश्यकता पड़ती है, जिसका मुख्य कार्य सभी व्यक्तियों के अधिकारों की रक्षा करना, समाज में कानून और व्यवस्था को बनाए रखना तथा विवादों का निर्णय करना होता है।

इस प्रसंग में Hart और Fuller के सिद्धांत का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। हार्ट के अनुसार कानून का नीति से कोई वास्ता नहीं है, न्याय हमेशा कानून के अनुसार ही होना चाहिए । जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है 'आसमान टूट जाए पर कानून को विचलित नहीं होना चाहिए'। आत्मीय स्वजनों के प्रति अर्जुन की मानविक दुर्बलता को दरकिनार कर महाभारत में श्रीकृष्ण अर्जुन को अन्याय के विरुद्ध युद्ध करने की ओर प्रवृत्त करते हैं। आँखे खुली होने पर कम से कम मानवीय दुर्बलताएँ तो सामने आ जाती है और न्याय कानून के अनुसार निर्णय देने में समर्थ हो सकता है ।

दूसरी तरफ फुलर कहते हैं न्याय-विचार नीति के अनुकूल होना चाहिए. परिस्थितियों के अनुसार कानून में बदलाव आना चाहिए तथा कोई भी कानून तब तक वैध नहीं हो सकता, जब तक वह नीति की दहलीज़ को पार नहीं करता है। किसी जरूरी काम से निकलते वक्त रास्ते में यदि कोई आकस्मिक दुर्घटना घट जाए तो हम दुविधा में पड़ जाते हैं क्या करें? काम छोड़ कर उस व्यक्ति को अस्पताल ले जाए या उसे वहीँ छोड़कर अपने काम पर निकल जाए! दोनों ही अवस्था में हम स्वयं को ग्लानि से मुक्त नहीं कर सकते हैं। ऐसे द्वंद्व हमारे सामने हरदम उपस्थित होते हैं और हम अपनी सामर्थ्य और जरूरत के हिसाब से समाधान भी करते हैं। मानवीय नियति शायद इसी को कहते है जिससे कोई निज़ात नहीं है। भगवती चरण वर्मा का कथन शायद युक्तिसंगत जान पड़ता है — हम न पाप करते हैं न पुण्य करते हैं हम वही करते हैं जो हमें करना पड़ता है ('चित्रलेखा' उपन्यास से)।

इस तरह कानून हो या नैतिकता दोनों का उद्देश्य न्याय दिलवाना होता है। न्याय के अभाव में राज्य तथा समाज का ढाँचा ही नष्ट हो जाता है। न्याय को इसलिए द्विमुखी कहा जाता है, जो कभी विधिसम्मत होने की और कभी नैतिकता की दुहाई देता है। कुछ दृष्टान्तों पर गौर करना आवश्यक है यथा

—एक फिल्म निर्माता पहले शो के सारे टिकट खुद खरीद कर हाउसफुल का बोर्ड लगवा देते हैं, यह कोई क़ानूनी जुर्म नहीं है, किन्तु उन्हीं टिकटों की काला बाजारी करना अपराध है। चिकित्सक अक्सर दुविधा में पड़ जाते हैं एक ही आक्सीजन सिलिंडर होने पर बच्चे को बचाया जाय या वृद्ध को? प्रश्न हो सकता है बांसुरी पर किसका हक़ है? जो बजा सकता है ? या जो उत्पादन करता है? या जो बांसुरी का व्यवसाय करता है? जिसने बनाई है वह बजाना नहीं जानता है, जिसने बनबाई है उसे भी बजाना नहीं आता तो बांसुरी किसके हाथ में होनी चाहिए? प्रश्न अधूरा जरूर है पर न्याय की दृष्टि से सशक्त है जो अधिकारी को खोजता है।

न्याय कैसे किया जाता है इसका कोई गाणितिक फार्मूला नहीं है। फाइनल परीक्षा छोड़ कर भी जो दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को अस्पताल पहुंचाता है, उसका कार्य प्रशंसनीय होता है, किन्तु वह परीक्षा में पास नहीं हो सकता। नानावती केस शायद लोगों को आज भी याद दिलाता है कि सामाजिक दवाब के कारण नेवी ऑफिसर को किस प्रकार मृत्यु दंड से बचाया गया था। गुजरात हाई कोर्ट का निर्णय आता है कि पक्षियों को 'उड़ने देना' उनके प्रति प्राकृतिक न्याय की पुकार है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में न्यायाधीश को अक्सर धर्माधिकारी कहा जाता है क्योंकि न्याय धर्म का ही स्वरूप होता है। यह धर्म कोई संप्रदायगत नहीं बल्कि न्याय-विचार है। वकील न्याय नहीं करता वह तो अपने पक्ष में सिर्फ तर्क उपस्थित करता है। न्यायाधीश दोनों तरफ के विचारों को सुनकर, आँख खोलकर तौलने की कोशिश करता है और सत्य को जान कर ही अपनी अद्‌भुत अंतर्दृष्टि से परखकर निरपेक्ष फैसले की तरफ आगे बढ़ता है। किन्तु ऐसा कब होता है? तीस-चालीस साल के पश्चात् यदि किसी अपराधी को सजा मिलती भी है अथवा अपराधी निरपराध बरी भी हो जाता है, तो क्या इस हास्यास्पद विचार को न्याय कहा जा सकता है — 'का बरसा जब कृषि सुखाने, समय चूकि पुनि का पछताने'।

एक गरीब रिक्शा वाला गहनों का बॉक्स खोज कर वापस कर जाता है और एक उच्च पदस्थ अधिकारी जो लाखों में कमाता है, लोगों के करोड़ों रुपये हड़पने में हिचकता नहीं है। यह तय करना मानव-जाति के लिए हमेशा से

एक पहेली रहा है कि न्याय का ठीक-ठीक अर्थ क्या होना चाहिए। लगभग हर युग में समय और परिस्थिति के अनुसार न्याय की व्याख्या बदलती रहती है, फिर भी न्याय की कोई आम समझ आज तक उपलब्ध नहीं है और इसके लिए कोई अनूठी किताब या पाठ भी नहीं है। न्याय का विचार उन मूल्यों और सिद्धांतों पर आधारित है जो मानव स्वभाव में अंतर्निहित हैं । संभवतः इसलिए महाभारत का कवि कहता है न्याय का मर्म कोई नहीं भेद सकता है — धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम ।

"The allegory of Justice" A Painting by Giorgio Vasari (1543)

१५४३ में बने इस चित्र को ध्यान से देखें किस तरह न्याय की देवी अर्द्धनग्न (अर्द्धसत्य) अवस्था में चित्रित है, जो सत्य को मुकुट पहनाना चाहती है पर असमर्थ है । सत्य के हाथ में दो निर्दोष पक्षी है। न्याय की देवी चारो तरफ से घिरी हुई है—कानून की किताब से, समय से जो सत्य की ठुड्डी पकड़ कर सराहता है कि समय आने पर सत्य प्रकट होगा। न्याय की कमर से लटक रही सात जंजीरें जो बुराइयों की प्रतीक है। भ्रष्टाचार में लिप्त वृद्ध धन संपत्ति को ललचाई निगाह से देख रहा है। भय और धोखे के चेहरे पक्षी के नीचे से झांक रहे हैं जो सत्य के बोझ तले दबा हुआ है। न्याय के दाहिने पैर के नीचे हरी और लाल किताब है जो सामाजिक और क़ानूनी संस्थाओं का प्रतीक है इत्यादि।

(मई २९, २०२५)

३६

(अधिकार एवं कर्तव्य के बीच द्वंद राजनीतिशास्त्र की शाश्वत समस्या है। सामाजिक न्याय के सामने सबसे बड़ी चुनौती तब उपस्थित होती है जब व्यक्तिगत अधिकार और सामूहिक कर्तव्य एक-दूसरे के विरोध में आमने-सामने खड़े होते हैं । यह चुनौती और भी बड़ी हो जाती है जब इनके बीच संतुलन स्थापित करना मुश्किल हो जाता है। यह लेख इस ओर संकेत करता दिख रहा है कि व्यक्तिगत अधिकार और सामूहिक कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं, दोनों में संतुलन आवश्यक है।)

कर्तव्य की बुनावट में अधिकार का ताना-बाना

"मुझे जिन्दा रहने का कोई अधिकार नहीं है!"—मृत्युदंड की प्रतीक्षा कर रही कैदी-महिला की चिल्लाहट थी। "तुम्हें जिन्दा रहने का पूरा अधिकार है, मैं तुम्हें यह अधिकार दिलवाऊँगी।" महिला वकील का दृढ़ उत्तर था।

उपर्युक्त संवाद मानवीय संवेदनाओं की घुटन और क़ानूनी बहस का हिस्सा है। न तो कैदी-महिला को मृत्युदंड मिला और न ही वकील उसका अधिकार दिलवा पाई, बल्कि कैदी-महिला की हत्या जेल के ही कुछ कर्मचारियों के द्वारा गले में रस्सी का फंदा डालकर की गई। (क्रिमिनल जस्टिस सत्य घटना पर आधारित)। अधिकार और न्याय के बीच की इस गहरी खाई को पाटने का काम सिर्फ कानून नहीं कर सकता है। जरूरत है सामाजिक प्रेक्षापट को बदलने की, जो बदलता तो है पर उसके स्थान पर कुछ नकाबपोश रक्तबीज स्थान दखल कर लेते हैं।

जिन्दा रहने की एक सहजात प्रवृत्ति प्राणी जगत में पाई जाती है, जिन्दा रहने का अर्थ सिर्फ इतना ही नहीं है, साँस बिना किसी रूकावट के चलती रहे, बल्कि एक मर्यादित और सम्मानित जीवन जीने का अधिकार इसकी कुंजी है। १९७३, अरुणा शानबाग, एक नर्स बम्बई अस्पताल में कार्यरत अस्पताल के ही एक कर्मी के द्वारा आक्रांत होकर स्थायी रूप से जिन्दा लाश बन गई थी। अस्पताल के कर्मचारियों की सहानुभूति और करुणा पर साँस लेती रही ४२ सालों तक। तमाम कानून, सबूतों और मानवाधिकार की कोशिशों के बावजूद न्याय, नैतिकता और मानवीय मर्यादा बेजार होती रही। अपराधी तो ७ साल बाद छूट गया। किन्तु अरुणा शानबाग के लिए क़ानून तथा नैतिकता दोनों ही नीरव हो चुके थे।

द्यूत सभा में द्रौपदी ने स्वयं को दाँव पर लगाए जाने को चुनौती देते हुए कहा —'युधिष्ठिर को क्या अधिकार था मुझे दाँव पर लगाने का जब वह स्वयं को हार चुके थे।' द्रौपदी पाँच पाण्डवों की पत्नी थी। इसलिए उसको

दाँव पर लगाने का युधिष्ठिर को अकेले कोई अधिकार नहीं था। द्रौपदी 'नाथवती' होते हुए भी 'अनाथवती' ही रही।

गांधीजी इस बात पर दुख जताते थे कि हर कोई अधिकारों की चाहत रखता है और उन पर जोर देता है, जबकि कोई भी कर्तव्य के बारे में नहीं सोचता" (हिंद स्वराज)। अधिकारों का दावा आये दिन, उठते बैठते घरों में, समाज में अशांति और कलह का कारण बन जाता हैं। अक्सर बच्चों को कहते सुना जाता है कि 'यह मेरी जिंदगी है, जैसे चाहूँ मैं इसे जिऊं, आपको कोई अधिकार नहीं है मुझे रोकने या टोकने का"। स्पष्ट है कि कर्तव्यों के पालन के बिना मानव अधिकार बेईमानी हो जाते हैं। समानता, स्वतंत्रता तथा वाक् स्वाधीनता का अधिकार एक व्यापक सामाजिक न्याय की अवधारणा के अंतर्गत आता है। स्वतंत्रता हमारा अधिकार अवश्य है लेकिन यह अधिकार निर्बाध नहीं है। वाक-स्वाधीनता भी मानव का अधिकार है, पर घृणास्पद छींटें कसने तथा हिंसा भड़काने वाला भाषण देने से बचने का कर्तव्य भी उसमें निहित है। परिवेश स्वच्छ पाना हमारा अधिकार है, तो भविष्य की पीढ़ी के लिए पृथ्वी को संरक्षित रखने का सामूहिक कर्तव्य भी हमारा ही है। न्यायायिक प्रशासन पाना यदि हमारा अधिकार है तो उसे भ्रष्ट न-बनाना हमारा कर्त्तव्य है। प्रत्येक अधिकार एक संगत कर्तव्य को जन्म देता है, जिम्मेदारी स्वीकार किए बिना स्वतंत्रता स्वयं स्वतंत्रता को नष्ट कर देती है।

समाज का गठन एक सुखी जिंदगी की तलाश के लिए किया गया था और सुख —कौटिल्यसूत्र के अनुसार 'सुखस्य मूलं धर्मः' अर्थात सुख का मूल कर्तव्य पालन में निहित है। धर्म शब्द का अर्थ यहाँ कर्तव्य से है। जैसे माता-पिता का कर्तव्य है बच्चों को सुरक्षा देना, शिक्षा देना तथा समाज के योग्य तैयार करना। यदि माता-पिता इन कर्त्तव्यों का पालन नहीं करते हैं तो स्वयं उनका अन्तःकरण उनको धिक्कारता है, समाज उनकी निन्दा करता है। किसी संस्था में कर्मरत होने के कारण उस संस्था से नियमित तनख्वाह पाना व्यक्ति का अधिकार होता है। लेकिन यही अधिकार विवाद का कारण भी बन जाता है, जैसे — उत्तराधिकार से प्राप्त संपत्ति, स्त्री-धन, घूस लेकर नौकरी देना, अवैध रूप से जमीन हड़पना, उधार लेकर न

चुकाना, हफ्ता वसूली करना, अभियुक्त और साक्षी को डराना-धमकाना आदि । कहने का आशय है कि जिस व्यक्ति के साथ यह अन्याय किया जाता है, उसे न्याय पाने का हक़ होता है।

हमारे सीमित संसाधनों और असीमित जरूरतों के बीच अक्सर तालमेल नहीं बैठता है। हो सकता है गरीब माँ-बाप अपने बच्चों को उच्च शिक्षा देने में असमर्थ हो, इस अधिकार को पाने के लिए कुछ बच्चे अपने परिश्रम से उसे अर्जित भी कर लेते हैं, कुछ अपनी सीमायें समझ कर शिक्षा ही छोड़ देते हैं। "मुझे यह मिलना चाहिए क्योंकि यह मेरा अधिकार है" इससे कहीं बेहतर है यह विश्वास करना कि "मुझे यह करना चाहिए क्योंकि मैं इसका योग्य अधिकारी हूँ"। भीमसेन जोशी और हरिप्रसाद चौरसिया जैसे विख्यात संगीतकारों ने बचपन से ही अपनी प्रतिभा को पहचान कर घर से भागकर इस कला पर अधिकार हासिल किया। कुछ ऐसे बदनसीब होते हैं, जिन्हें अच्छी से अच्छी शिक्षा का अवसर मिलने पर भी उसे गँवा देते हैं । तात्पर्य है कि अधिकार हमें योग्यता के अनुसार अर्जित करना पड़ता है। मानवीयता के नाते शरणार्थियों को आश्रय देना कर्त्तव्य है, तो अपनी क्षमता के अनुसार न-देना भी अधिकार है। गुस्से में आकर अपनी ही संपत्ति की तोड़फोड़ करना हमारा अधिकार है, पर इस तोड़फोड़ से जो माहौल दूषित होता है, वह अधिकार की सीमा के बाहर होता है।

अधिकार व्यक्ति को सचेतन बनाता है, जबकि कर्तव्य आगाह करता है। जैसे— हमें किसी भी धर्म की पूजा पद्धति को अपनाने का अधिकार है, पर हमारा कर्तव्य भी है कि किसी अन्य व्यक्ति को इससे कोई हानि न हो। हमें गाड़ी चलाने का अधिकार है, परन्तु हमारा कर्तव्य है कि हम वैध लाइसेंस के साथ यातायात के नियमों के साथ गाड़ी चलाएँ। हमें अपने घरों में संगीत सुनने का अधिकार है परन्तु यह संगीत अन्य लोगों को कष्ट न पहुँचाए यह हमारा कर्तव्य है। इस तरह कर्तव्य की कोई सटीक परिभाषा नहीं दी जा सकती है। कर्तव्य अगर थोप दिया जाए तो वह थकाने वाला हो जाता है। लेकिन, 'कर्तव्य यदि श्रद्धा व आस्था के साथ किया जाए तो वह नैतिकता की सर्वोच्च कसौटी पर खरा उतरता है। उदाहरण के लिए राजनीतिज्ञ अक्सर सर्वसाधारण की सेवा करने का दिखावा करते हैं, उनका यह सेवा

धर्म शर्त-सापेक्ष होता है, क्योंकि वे किसी पद की लालसा से, अर्थ प्राप्ति अथवा वोट पाने की इच्छा से कर्म करते हैं। पर कर्तव्य पालन तो विशुद्ध निरपेक्ष संकल्प प्रणीत होना चाहिए। कर्तव्य करने के पीछे कोई तर्क नहीं काम करता है। उदाहरण के लिए 'भूख लगना' एक जैविक वृत्ति है, अतः यह प्रश्न 'क्यों भूख लगी' अवांछित है। प्रसिद्ध दार्शनिक कान्ट नैतिकता में एक ऐसी ही 'अनिवार्यता' की तलाश करते हैं जो शर्त सापेक्ष न हो। अतः 'कर्त्तव्य सिर्फ कर्तव्य के खातिर' ही किया जा सकता है, किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर नहीं। पक्षियों का घोंसला बनाना, बच्चों की परवरिश करना, मछलियों का तैरना, पक्षियों का उड़ना सहजात प्रवृत्ति है, इसके लिए उन्हें किसी शिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती है, जिसमे लेश मात्र भी स्वार्थ की बू नहीं आती है।

काण्टीय नैतिकता का मूल सिद्धांत यही है जो 'मैं करता हूँ वह दूसरे को भी करने की इज़ाज़त दी जानी चाहिए'। यदि मैं कचरा कूड़ेदान में नहीं डालता हूँ तो यह अधिकार सबको है कि वे कचरा कूड़ेदान में न डाले। इसी तरह अगर मैं झूठ बोल सकता हूँ तो दुनिया में हर किसी को अधिकार है कि वह झूठ बोल सकता है । कल्पना करें ऐसी दुनिया कितनी भयंकर हो जाएगी। रोजमर्रा की जिन्दगी में अधिकारों और कर्तव्यों की टकराहट सर्वविदित है — सम्पत्ति, रिश्तें, विचारों का द्वंद्व, धूम्रपान करने का अधिकार, श्रमिकों का अधिकार, निजता का अधिकार, पद की गरिमा का असम्मान इत्यादि टकराहट की दीर्घ सूची है। बेहतर हो कि अधिकार और कर्त्तव्य के सह-संबंध, उनकी मर्यादा को न्याय के चौखटे में रखकर ही समझा जाए। न्याय विचार सिर्फ कानून के कन्धों पर चढ़कर नहीं होता है, अर्थात क़ानूनी किताब केवल न्याय विचार नहीं कर सकती। 'न्याय करना' एक ऐसा गुण है जो अन्य सभी मानवीय संवेदनाओं की तरह सहजात होता है। हमारी अन्तर्प्रज्ञा निर्धारित कर देती है, बतौर शिक्षण के हमें कब क्या करना चाहिए, हालाँकि इसमें रकम फेर की संभावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

एक घटना का उल्लेख करना उचित होगा, जिसमें एक पुलिसकर्मी को कुछ युवक पीट रहे थे। पुलिसकर्मी के पास पिस्तौल और ट्रेनिंग दोनों ही

थी, लेकिन उसने उसका इस्तेमाल नहीं किया, क्योंकि वह ईवीएम को सुरक्षित रखना चाहता था। उसने कर्तव्य को प्राथमिकता देने का उदाहरण पेश किया। इसी प्रकार शिक्षक जब छात्रों को पढ़ाने का अपना कर्तव्य निभा रहा हो तो छात्रों को यह अधिकार नहीं है कि कक्षा में शोरगुल मचायें या यह कहें कि 'आप अपना काम करें हमें अपना काम करने दें (शोर मचाने दें)'।

अंत में यह कहना उचित होगा कि यदि किसी प्रक्रिया को उसके हाल पर छोड़ दिया जाए, तो वह स्वाभाविक रूप से अव्यवस्था और क्षय की दिशा में अग्रसर होने लगती है — जैसे यदि हम किसी मशीन को बिना रखरखाव के छोड़ दें, तो वह धीरे-धीरे खराब हो जाती है। यह भौतिकी का मौलिक नियम है। अधिकार और कर्तव्य न्याय की कोई वैकल्पिक व्यवस्था नहीं है, बल्कि एक चक्रक अनिवार्यता है, जो एक दूसरे के साथ ही सुरक्षित रह सकती है। कर्तव्य अधिकार को शिथिल होने से बचाता है, और अधिकार कर्तव्य को एक उड़ान देता है, जिससे न्यायविचार को थोड़ा आगे बढ़ने में मदद मिलती है।

(जून १२, २०२५)